सप्तशती-सूक्त-रहस्य

सम्पादक

'कुलभूषण' पं० रमादत्त शुक्ल, एम० ए०
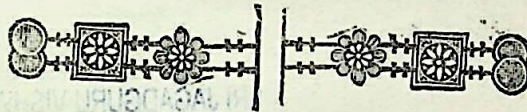
प्रकाशक

पं० देवीदत्त शुक्ल स्मारक

शाक्त साधना पीठ

प्रयाग-६

प्रथम संस्करण] चैत्र शुक्लाष्टमी [सम्वत् २०३५

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

"दुर्गा सप्तशती" ही एकमात्र ऐसा आख्यान है, जिसका पाठ व्यापक रूप से विविध कामनाओं की पूर्ति के लिए आस्तिक लोग चिर काल से करते आ रहे हैं। शत-चण्डी, सहस्र-चण्डी, लक्ष-चण्डी आदि विख्यात अनुष्ठानों में इसी सिद्धि-दायिनी सप्तशती का पाठ होता आया है और आज भी होता दिखाई देता है। 'लक्ष्मी-तन्त्र' में इस सम्बन्ध में लिखा है कि—

सम्यक् हृदि स्थिता सेयं जन्म-कर्मावलि-स्तुतिः।
एतां द्विज-मुखात् ज्ञात्वा अधीयानो नरः सदा॥
विधूय निखिलां मायां सम्यक् ज्ञानं समश्नुतं।
सर्वं-सम्पद् समाप्नोति धुनोति सकलापदः॥

अर्थात् भगवती के आविर्भाव और उनके कर्मों से युक्त इस स्तव को द्विज के मुख से जानकर, अपने हृदय में निष्ठापूर्वक धारण कर जो मनुष्य सदा इसका मनन करता है, वह माया जाल को नष्ट कर सद्-ज्ञान को प्राप्त करता है और समस्त आपत्तियों को दूर कर सभी ऐश्वर्यों को पाता है।

ऐसी महत्वपूर्ण "दुर्गा सप्तशती" के ऐतिहासिक आख्यान की दार्शनिक व्याख्या कितनी आवश्यक है, विशेषकर ज्ञान-मार्ग के साधकों के लिए, यह स्वतः स्पष्ट है। कर्म और भक्ति-मार्ग के पथिकों का उद्देश्य तो सामान्य अर्थ जानने मात्र से सिद्ध हो जाता है, किन्तु ज्ञान-मार्गी का बोध विशेष व्याख्या से ही सम्भव है।

सप्तशतो के विविध सूक्तों की प्रस्तुत व्याख्या मिथिला के विद्वान् साधक 'दरभङ्गा-राजवंश-सम्भूत' स्वर्गीय श्री श्यामानन्द नाथ की लिखी हुई है। लगभग ३० वर्ष पूर्व 'चण्डो' में इसका प्रकाशन हुआ था और सप्तशती के भक्तों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। हमें विश्वास है कि सप्तशती-सूक्तों की ज्ञान-दायिनी उक्त व्याख्याएँ पुस्तक-रूप में और भी अधिक लोकप्रिय होंगी और शक्ति के उपासक-बन्धु इससे अधिकाधिक लाभ उठा सकेंगे।

चैत्र पूर्णिमा २०३४ —'कुल-भूषण'

श्री सप्तशती उपनिषद्

य: पाव मानोरध्येत्यृषिभि: सम्भृतं रसम् ।
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना ॥—ऋग्वेद ९।६७।३१

अर्थात् जो व्यक्ति ऋषियों अर्थात् ब्रह्म-वेत्ताओं द्वारा इकट्ठे किए गए विशुद्ध 'रस' अर्थात् सार-भाग तत्व का पान करता है, वह 'सर्वं' अर्थात् अखिल विश्व को विशुद्ध रूप में मानने लगता है, जैसा कि प्रकृति ने उसे प्रकृत भाव में रचा है।

ऐसी उक्ति सभी उपनिषदों के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। प्रकृत विषय ऋषि क्या महर्षि वेदव्यास से ही सम्भृत है। इसका मन्थन कर 'रस' वा सार निकालने के अनेक मार्ग वा क्रम हैं। अपनी-अपनी सूझ के अनुसार हम इनका उपयोग कर अपनी-अपनी भौतिक, दैविक और आत्मिक उन्नति कर सकते हैं। यही नहीं, हम दर्शन, विज्ञान और चरित्र तीनों का सम्वर्धन कर सकते हैं।

उक्त तीनों में प्रधान लक्ष्य चरित्र-सम्वर्धन ही है, पूर्व के दोनों इसकी पूर्व-पीठिकाएँ हैं। यदि क्रिया-योग वा कर्म-योग द्वारा विज्ञान के आधार पर हम अपने चरित्र की उन्नति नहीं कर सके, तो दर्शन द्वारा प्राप्त विज्ञान हमको प्रकृत ज्ञानी न बनाकर अज्ञानी से भी निकृष्ट ज्ञान-बन्धु ही बनाएगा। ज्ञान-बन्धु उन्हीं को कहते हैं. जो ज्ञान से लाभ नहीं उठाते और तत्वों की चर्चा दूसरों के वञ्चनार्थं ही करते हैं, कारण यह उनका ज्ञान-कौशल उपजीविका के लिए ही है। इस प्रकार ज्ञानी और ज्ञान-बन्धु की बहुत विशद विवेचना शास्त्रों में है। सारांश इतना ही है कि प्रकृत ज्ञानी वही है, जो अपने ज्ञान से अपने चरित्र का सम्वर्धन करता है और दूसरों को भी उपदेश देकर चरित्रवान् बनाता है। इसके विपरीत ज्ञान-बन्धु वह है, जो अपने ज्ञान को कार्य (क्रिया) रूप में परिणत न कर उसकी चर्चा कर अपनी जीविका चलाता है। यद्वा उसे ज्ञान-बन्धु कहते हैं, जो वास्तविक रहस्य का ज्ञान न रखकर केवल अहङ्कारी शब्द-ज्ञानी मात्र होता है।

वस्तुत: मात्र शब्दों के पढ़ लेने से वा शब्द के स्थूलार्थ को जान लेने से ही ज्ञान नहीं होता है। साधक जीव-रूपी पक्षी के दो पङ्ख होते हैं। केवल एक पङ्ख से वह नहीं उड़ सकता। उड़ने के लिए दोनों की आवश्यकता समान रूप से है। उड़ने का अर्थ है अपने लक्ष्य स्थान वा परम पद को जाना। उक्त दोनों पङ्ख हैं—१ ज्ञान और २ कर्म अर्थात् १ ज्ञान-योग और २ क्रिया-योग।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि वही उपनिषत् यथार्थ उपनिषत् (उप = समीपे + नि = निःशेष रूप से + सद् गमने विशरणे (विनाशे) + क्विप्) है, जो साधक को अविद्या को नष्ट कर उसे लक्ष्य वा साध्य के पास ले जाता है।

'सप्तशती' रूपी उपनिषत् प्रकृत रूप का पूर्ण उपनिषत् है। इसमें ज्ञान और क्रिया दोनों का शिक्षण है। जो उपनिषत् परम लक्ष्य का केवल वाचनिक बोध ही कराते हैं, उनको पूर्ण उपनिषत् नहीं कह सकते। पढ़ लेने से जो ज्ञान होता है, वह यथार्थ पूर्ण ज्ञान नहीं है। क्रिया करके जो ज्ञान होता है, वही प्रकृत ज्ञान है और एकमात्र वही मुक्ति देनेवाला है। इसी सिद्धान्त को सप्तशती-उपनिषत् के आदि ही में मेधस ऋषि ने सुरथ और समाधि को समझाया है।

फिर जहाँ अन्य उपनिषदों ने गूढ़ प्रकार से परम सत्ता का प्रतिपादन किया है, वहाँ सप्तशती- उपनिषत् ने कहीं अधिक सरल रूप से इस सत्ता का प्रतिपादन किया है और साथ ही उक्त सत्ता की प्राप्ति की विधि भी बतलाई है। सप्तशती की विशेषता यही है। यह दूसरी बात है कि हम आज भले ही उसकी इस विशेषता को न समझें और तोते के समान रहस्यार्थ समझे बिना इसके शब्दों की आवृत्ति मात्र ही करते रहें।

जगद्गुरु आदिनाथ शिव की निम्न उक्ति से सप्तशती की विशेषता स्पष्टतया ज्ञात होती है—

'सप्तशत्याश्च सकलं तत्वं वेद्मचहमेव हि
पादोनं श्री हरिर्वेत्ति वेत्यर्द्धं प्रजापतिः।
व्यासस्तुर्य्यांशकं वेत्ति कोट्यंशमितरे जनाः ॥ —मेरुतन्त्र

अर्थात् स्थूलार्थ वा वाच्यार्थ तो साधारण शाब्दिक (व्याकरण जाननेवाले) लोग भी जान सकते हैं परन्तु रहस्यार्थ के पूर्ण ज्ञाता केवल आदिनाथ महादेव ही हैं। भगवान् विष्णु भी इसके केवल तीन ही चरण; ब्रह्मा जी दो ही चरण वा आधा और वेदव्यास एक ही चरण वा चौथाई अंश जानते हैं। अन्य लोग तो उसका करोड़वाँ अंश ही जानते हैं।

दुःख की बात है कि आज उक्त करोड़वें अंश का भी ज्ञान हमें नहीं है। इसका एक ही कारण है—गुरु-परम्परा का अधःपतन। गीता का प्रतिपादन जगद्गुरु भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को कर्म-योग अर्थात् व्यावहारिक कर्म-सम्पादन-कौशल की शिक्षा-स्वरूप किया था। इसी का कैसा दुरुपयोग आज हो रहा है। गीता के शब्दों की—पद्यों को मात्र आवृत्ति कर हम वेदान्ती बन जाते हैं। कैसी अहम्मानिता है! इसी प्रकार हम सप्तशती की शुकवत् आवृत्ति कर लेने पर शरीर-रूपी दुर्ग-वासिनी प्राण महाशक्ति माँ दुर्गा की उपासना की इच्छा]

इति श्री मान बैठते हैं। मधु-कैटभ-बध, स-सैन्य महिषासुर-बध और शुम्भ-निशुम्भादि असुरों के बध की कथाएँ पढ़ देवी-माहात्म्य की सामान्य झलक मात्र हम देखते हैं किन्तु इनके द्वारा दिये गये शिक्षण से किञ्चित् लाभ नहीं उठाते। दूसरे शब्दों में हम ज्ञानी होने के स्थान परं ज्ञान-बन्धु ही बनते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार शरीर से आत्मा भिन्न है; उसी प्रकार कथानकों वा चरितों से इनके तत्व भिन्न हैं। पुनः जिस प्रकार इस शरीर-रूपी रूपक के अन्दर तत्व-रूपी आत्मा छिपो बैठी है; उसी प्रकार इन रूपकों के अन्दर भी तात्विक पदार्थ हैं। बाह्यार्थ द्वारा अर्थात् बाह्य प्रक्रिया द्वारा इनको मन्थित (मथ) करके सार नहीं निकाला जा सकता। श्रुति की उक्ति है कि जगत् की प्रत्येक वस्तु में सार पदार्थ है; जो मन्थन करने से ही मिल सकता है—

"घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम्।
सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थ-भूतेन ॥" (ब्रह्म-विन्दूपनिषत्)

अर्थात् समस्त जगत् पयस् (दूध) वत् है। दूध में जिस प्रकार पानी रहता है, उसी प्रकार जगत्-सत्ता की उभय-परिणामिनी (मिश्र) चिदचित् वा सदसत् सत्तात्मक प्रत्येक वस्तु में नीर-क्षीर-वत् नित्य संयोग का सम्बन्ध है। इस नीर-क्षीर सम्बन्ध का विश्लेषण ही तत्व-चिन्ता है। यही सार वस्तु है।

तत्व-चिन्ता से निकृष्ट है शास्त्र-चिन्ता—"उत्तमा तत्व-चिन्तैव मध्यमं शास्त्र-चिन्तनम्"—श्रुति मैत्रेय्युपनिषत्। तत्व-चिन्ता को ही विचार कहते हैं। योग-वाशिष्ठ ने प्रकृत विचारकों को महा-प्राज्ञ कहा है—"विरक्त-चित्ताश्च तथा महा-प्राज्ञा विचारिणः" मुमुक्ष-व्यवहार प्र० १०।४२ विचार अर्थात् तत्व-विचार-चिन्ता ही संसार-रोग की महौषध है। "दीर्घ-संसार-रोगस्य विचारो हि महौषधम्"—योग-वाशिष्ठ। यही सन्तों वा सत्-जनों का मार्ग है—'विचारो हि सतां गतिः'—योग-वाशिष्ठ। विचार से ही पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति होती है। इसी से शास्त्रों में विचार को कल्पवृक्ष माना गया है।

"राज्यानि सम्पदः स्फारा भोगो मोक्षश्च शाश्वतः।
विचार-कल्प-वृक्षस्य फलान्येतानि राघव ॥" मु०व्य० प्रकरण १४।१०

अब विचार कहते हैं किसको, इसकी भी प्रकृत व्याख्या समझनो है। 'विचार' (वि = विशेष + चारः = क्रिया) पद का अर्थ है विशेष क्रिया। चर् धातु गति-वाच्यार्थक है अर्थात् चलना इसका अर्थ है। साधारणतया इससे मानसिक गति या क्रिया का बोध होता है, परन्तु नहीं, विचार का प्रकृत अर्थ है मानसिक, वाचनिक और कायिक गति अर्थात् इससे तीनों प्रकार की क्रियाओं का बोध होता है।

[सात

केवल मानसिक विचार पूर्ण फल-प्रद नहीं है। मन-ही-मन यदि हम कलकत्ते जाने का विचार कर लें, तो इस विचार मात्र से हम कलकत्ते चले गये, ऐसा हम समझ नहीं सकते। जब तक हम अपने मानसिक विचार को व्यवहार-रूप में परिणत नहीं करते, हमारे विचार का प्रकृत रूप नहीं बनता। इसी प्रकार मन-ही-मन यदि हम "तत्वमसि" वा "अहं ब्रह्मास्मि" आदि महा-वाक्यों को श्रवण कर विचार करें कि 'मैं ब्रह्म हूं', 'मैं शिव हूँ'—इत्यादि, तो केवल इसी विचार के बल पर हम ब्रह्म-भावापन्न नहीं हो सकते। शिव वा ब्रह्म हम तभी हो सकते हैं, जब हम क्रियात्मक विचार अथवा वहाँ तक विशेष रूप से वा प्रत्यक्ष रूप से 'चार' वा गमन करें। इसी अवस्था में उक्त विचार कल्प-वृक्ष होकर हमें सभी प्रकार के फलों का दाता हो सकता है।

विचार करने की भी योग्यता होती है। विना योग्य हुये विचार नहीं कर सकते। इसके लिये केवल मानसिक योग्यता हो, जो शास्त्रादि के अध्ययन मात्र से आती है, पर्य्याप्त नहीं है। इसके लिये प्राण-शक्ति वा क्रिया-शक्ति की आवश्यकता होती है। जब तक प्राण-शक्ति सम्वर्धित हो स्थिर नहीं हो जाती, तब तक विचार वा तत्व-चिन्ता हो ही नहीं सकती। शास्त्रों ने भी ऐसा कहा है और प्रत्यक्ष अनुभूति भी इसी का समर्थन करती है।

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्य-मार्गे।
यावद् विन्दुर्न भवति दृढ़: प्राण-वात-प्रबन्धात्॥
यावद् ध्याने सहज-सदृशं जायते नैव तत्वम्।
तावज् ज्ञानं वदति तावदिदं दम्भ मिथ्या प्रलापः॥ —हठ-प्रदीपिका

तात्पर्य कि जब तक कुण्डली सुषुम्णा में नहीं प्रवेश करती, प्राण-वायु के प्रबन्ध अर्थात् योग-कौशल से विन्दु अर्थात् लक्ष्य दृढ़ वा स्थिर जब तक नहीं होता और जब तक ध्यान में सहज भाव से तथा समान भाव से तत्व का रूप नहीं आता, तब तक ज्ञान का होना असम्भव है। तात्पर्य कि 'मैं ज्ञानी हूँ', ऐसा कहना अभिमान-पूर्ण मिथ्या प्रलाप (विकार-युक्त बोलना) ही है।

सप्तशती-गत ब्रह्म-विद्या में कुण्डली का मध्य मार्ग में प्रवेश, विन्दु का दृढीकरण और ध्यान की सहजावस्था—इन तीनों के माहात्म्य-सहित इनकी विधियों का प्रतिपादन है।

प्रस्तुत सप्तशती-सूक्त-व्याख्याओं के अध्ययन से हममें केवल वांछित परिवर्तन ही आ सकता है। आवश्यकता है कि इस परिवर्तन के आधार पर सद्गुरु के उपदेशानुसार कौशल सीखकर अचिन्त्य और अलंघ्य महा-शक्ति के अल्प-तम ज्ञान का अनुभव प्राप्त करने का प्रयास किया जाय। यही प्रयत्न 'कौल-साधना' या 'शाक्त-साधना' है।

रात्रि-सूक्त

दुर्गा सप्तशती के प्रथम अध्याय में ब्रह्मा जी ने कालरात्रि महाशक्ति की पन्द्रह श्लोकों में स्तुति की है। यह स्तुति 'रात्रि-सूक्त' के नाम से प्रसिद्ध है। इसे 'विश्वेश्वरी-सूक्त' और 'तान्त्रिक रात्रि-सूक्त' भी कहते हैं। इसका रहस्य हृदयङ्गम करने से साधना में सरलता से प्रगति होती है।

रात्रि-सूक्त की व्याख्या करने के पूर्व 'रात्रि' का परिचय देना और इससे सम्बन्धित प्रथम चरित के कथानक का दार्शनिक भाव स्पष्ट करना आवश्यक है।

रात्रि-शक्ति का सर्वोत्कृष्ट रूप काल-रात्रि नव-दुर्गाओं में की सातवीं दुर्गा भगवती है। इस सूक्त में इस महाशक्ति की वन्दना कर 'तम आसीत् तमसातिगूढ़न्' ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। यह भगवती रात्रि भी समष्टि और व्यष्टि दो रूपों वाली है। समष्टि-रात्रि को ब्रह्म-रात्रि और व्यष्टि-रात्रि को जीव-रात्रि कहते हैं।

'रात्रि' शब्द के कई अर्थ हैं। रात्रि देवन-शीला ब्रह्म-मायात्मिका इच्छा-शक्ति को कहते हैं। यह रात्रि-रूपा चिदचित् शक्ति समय आने पर अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा महदादि अर्थात् महतत्वों का पञ्चीकरण कर अविद्या-प्रपञ्च की सृष्टि करती है और जीवों को उनके कर्मों के अनुसार इस विश्व-रंगमञ्च पर, जिसकी यवनिका समय है, विश्व-नाटक का पात्र बना लीला कराती हुई स्वयं देखती है और आनन्द का उपभोग करती है।

यहाँ 'माया' से मायावाद की माया से तात्पर्य नहीं है क्योंकि वह 'किंभू किमाकार' कही गई है अर्थात् वह न सत् है और न असत्। यहाँ माया से केवल विद्या माया से तात्पर्य है। माया और अविद्या में पृथ्वी-आकाश का अन्तर है। माया अविद्या का कारण है। इसकी आवश्यकता अविद्या-प्रपञ्च के निमित्त मात्र है। विद्या माया चित्-परा आद्या शक्ति का भेदाभेद रूप है अर्थात् वह उससे भिन्न नहीं है और एक भी नहीं है। माया महाकाल अर्थात् आद्या शक्ति निष्कल ब्रह्म की काल-शक्ति (काल एव शक्तिर्यस्याः सा) से उत्पन्न हुई है। इसी का नाम भुवनेशी है—

> काली व्यापक-सच्छाया महाकालः प्रकीर्तितः।
> महाकालाद् भवेन्माया सा प्रोक्ता भुवनेश्वरी ॥
>
> —(शक्तिसंगम-कालीखण्ड १।९६)

व्यष्टि-रात्रि अर्थात् जीवों की रात्रि दिवा के अवसान, व्यवहार के लोप अथवा निष्क्रियता का सूचक है। समष्टि-रात्रि या विश्व-रात्रि प्रपञ्चावसान में महा-प्रलय-काल-रूपा काल-रात्रि कहलाती है। इसी प्रकार खण्ड-प्रलय आदि में अन्य अमुख्य रात्रियाँ महारात्रि, मोहरात्रि इत्यादि कहलाती हैं। देवी-पुराण कहता है—

> ब्रह्म-मायात्मिका रात्रिः परमेश-लयात्मिका।
> तदधिष्ठातृ देवी तु भुवनेशी प्रकीर्तिता ॥

यह रात्रि जिस प्रकार जीव का विश्राम समय है, उसी प्रकार इस रात्रि की विशिष्टावस्था अर्थात् काल-रात्रि चित्-परा आद्या-शक्ति-ब्रह्म के विश्राम का समय है। संक्षेप में इस रात्रि-शक्ति को हम—"असद् वा इदमग्र आसीत् ततो वै सद् जायत"—(तैत्तरीय० ब्राह्म० वल्ली ७ अनुवाक) इस श्रौत

वाक्य के मनन से समझ सकते हैं। गीता के ८ वें अध्याय के १८ वें और १९ वें श्लोकों के मनन से भी रात्रि-तत्व का ज्ञान हो सकता है।

ब्रह्मा जी ने उक्त रात्रि-सूक्त द्वारा श्री दुर्गा चित्-परा शक्ति के प्रथम रूप महाकाली की स्तुति की है। इस प्रथम रूप महाकाली का चरित सप्तशती के प्रथम तीन अध्यायों में वर्णित किया गया है। इस प्रथम चरित का आध्यात्मिक अन्तस्तात्पर्य या दार्शनिक रहस्य इस प्रकार है—

विष्णु अर्थात् परब्रह्म—'व्यपनात विष्णुः यथा कर्षणात् कृष्णः, रमणात् रामः।' यहाँ कथित इनके 'भगवान्' और 'प्रभु' इन दो विशेषणों से परब्रह्म-शक्ति अर्थात् सर्व-गुण-सम्पन्न चिदचिद ब्रह्म का बोध होता है। 'भगवान्' से समग्राव-वोध से तात्पर्य है और 'प्रभु' से अप्रतिहतेच्छ से अर्थात् सर्वैश्वर्य-शाली वा सर्व-गुण-सम्पन्न से तात्पर्य है। 'स्वामी' से सबके स्वामी ब्रह्म की शक्ति से ही तात्पर्य है. कारण इसका स्वामी दूसरा कोई नहीं है।

ऐसे ही विष्णु ने कल्प के अन्त में समस्त व्यक्त प्रकृति को अपने में समेट कर (सर्व-भूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्—गीता) अखण्डानन्द-तेजो-राशि रूपी तरंगोंवाले दिव्य मंगलालय निरतिशयानन्दामृत-सागर में अर्थात् त्रिगुणातीत वा त्रितत्वातीत अवस्था में अनन्त शुद्ध वोध-रूप अनन्त (शेषनाग) की शय्या (आधार) वना उस कृत-प्रपञ्च के विराम-स्थान में योग द्वारा स्वेच्छा से निर्मित स्वनेत्रावरण रूप निद्रा का अंगीकार किया था अर्थात् वे शुद्ध सत्-चित्-आनन्दावस्था में विश्राम कर रहे थे। दूसरे शब्दों में वे निष्क्रिय हो रहे थे। उनकी इच्छा हुई कि 'एकोऽहं बहु स्याम्' अर्थात् एक से अनेक होऊँ।

यही इच्छा-शक्ति ब्रह्मा की उत्पत्ति की बोधक है। इसी प्रकार ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति क्रमशः विष्णु और रुद्र की द्योतक हैं। ये तीनों शक्तियाँ एक ही परा धर्मी शक्ति की अभिन्न और विभिन्न धर्म-शक्तियाँ हैं। इसी हेतु ब्रह्मा-अर्थात् इच्छा-शक्ति का अधिष्ठान ब्रह्म शक्ति व विष्णु है। इसी की द्योतक है विष्णु (ब्रह्म) के नाभि-कमल पर ब्रह्मा की भिन्नाभिन्न स्थिति। अस्तु।

इसी समय वियदादि स्थूल प्रपञ्च रूप (अविद्या-प्रपञ्च) के वीज-द्वय नाम और रूप की अविद्या (ब्रह्म का अविद्या-पाद) आविर्भूत हुई। ये ही पौराणिक द्वन्द्व रूप मधु और कैटभ नाम से विष्णु के कर्ण-मल स्वरूप कहे गये हैं। यही मल, जो पाँच प्रकार के हैं, अविद्या है।

इन पाँचों मलों के नाम ये हैं—१ आणव्य, २ कार्मण, ३ मायिक, ४ प्राकृतिक और ५ आहंकारिक। ये पाँचों पञ्च-तत्वाधिष्ठातृ देवताओं अर्थात पाँचों तत्वों में क्रमशः हैं, किन्तु शक्तिसंगम का मत है कि आणव्य-मल जीव मात्र में, कार्मण ब्रह्मा और विष्णु में, मायिक रुद्र में, प्राकृतिक ईश्वर में और आहंकारिक सदाशिव में है।

अविद्या किसी को छोड़नेवाली नहीं। अतएव मधु और कैटभ अर्थात् नाम और रूप-रूपिणी अविद्या ब्रह्मा को भी मारने अर्थात् ग्रसने को दौड़ी। इस पर ब्रह्मा अविद्या को दूर करनेवाली महाविद्या को पुकारने लगे।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि धर्म-शक्ति के वदले धर्मी-शक्ति की ही स्तुति क्यों न की गई? इसका समाधान यह है कि जो कोई क्रिया होती है, धर्म-शक्ति के द्वारा ही होती है। सूर्य से तम वा अन्धकार का नाश नहीं होता है वरन् उसकी धर्म-शक्ति प्रकाश से ही होता है। अग्नि से चावल इत्यादि सिद्ध नहीं होते वरन् अग्नि के पकाने की शक्ति से ही होते हैं। इसी प्रकार जितने भी कार्य

होते हैं, धर्मी-शक्ति को धर्म-शक्ति द्वारा होते हैं।

धर्म-शक्तियों में विमर्श-शक्ति प्रधान है। इस स्तवन वा चिन्तन से विमर्श-शक्ति (बुद्धि-शक्ति) द्वारा अविद्या का अर्थात् नाम-रूप-द्वय-रूपी मधु और कैटभ का नाश वा रूपान्तर हुआ। व्यष्टि में भी ऐसा ही होता है। अविवेक के उदय होने पर बुद्धि-योग अर्थात् बुद्धि-शक्ति द्वारा ही यह दूर किया जाता है। भगवान् कृष्ण का अर्जुन को उपदेश भी है—

"बुद्धि-युक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुःकृते"—गीता

किन्तु यहाँ सुकृत और दुःकृत के वदले 'इच्छा-द्वेष-समुत्थेन द्वन्द्व-मोह" से तात्पर्य है।

मधु और कैटभ के नाश वा रूपान्तर से सृष्टि-सम्पादन-रूप मेद से मेदिनो (पृथ्वी) और दूसरे-दूसरे अंगों से सृष्टि को अन्य सभी क्रियायें सम्पादित होने का तात्पर्य है।

यही रात्रि-सूक्त की भूमिका प्रथम चरित का आध्यात्मिक रहस्य है। इसके मनन से ब्रह्मा के समान हम जीवों के द्वन्द्व-मोह का नाश अर्थात् अनात्माकार वृत्ति का लय होकर आत्माकार वृत्ति की स्थिति दृढ़ होती है। इसका एक दूसरा गुह्यतर तात्पर्य कुण्डली-शक्ति के उत्थान से भी है।

यह रात्रि-रूपिणी प्रकाश-शक्ति की ही स्तुति है। स्तुति से ही वह प्रसन्न होती है। प्रसन्न होकर वह सुबुद्धि देकर अविद्या को दूर करती है। अन्यथा सुबुद्धि की प्राप्ति नहीं होती। गीता का भी यही उपदेश है—

"तेषां सतत-युक्तानां भजतां प्रीति- पूर्वकम्।
ददामि बुद्धि-योगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
१०।१०।
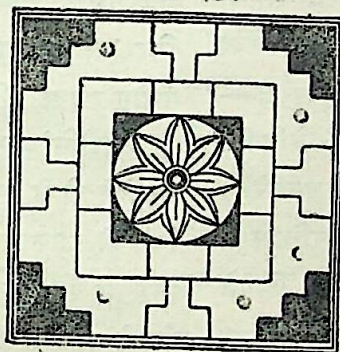
रात्रि-सूक्त-व्याख्या

(ॐ) ब्रह्मोवाच ।

टीका—ब्रह्मा ने कहा ।

व्याख्या—ब्रह्मा ने चिदचित्-स्वरूपिणी परा-शक्ति की वन्दना की ।

विश्वेश्वरीं जगद्धात्रीं स्थिति-संहार-कारिणीम् ।
स्तौमि निद्रां भगवतीं विष्णोरतुल-तेजसः ।।

टीका—(मैं) विश्व की स्वामिनी, जगत् की जननी, पालिका और लय-कारिका अद्वितीय तेजस्वी विष्णु की भगवती निद्रा की वन्दना करता हूँ ।

व्याख्या—'विश्वेश्वरी' से विश्व-व्यापिका चित्-शक्ति परा-सत्ता का बोध होता है । 'धात्री' से यहाँ जननी से तात्पर्य है, न कि पालनेवाली से, जो स्थिति-कारिणी से वोध होता है । धातृ शब्द सृष्टि-कर्तृ वचन है । ऐसा कोष भी कहता है—'धात्री जनन्यामलकी वसुमत्युपमातृष्विति'—मेदिनी । पुनः 'धाताब्जयो निर्द्रुहिण इति'—कोशान्तरे ।

'स्थिति-कारिणी' से तात्पर्य उस धर्म-शक्ति से है, जिससे पदार्थ की धारणा वा स्थिति है । 'ध्रियते अनेन सः धर्मः' । 'संहार' का अर्थ है सम्यक् प्रकार से हरण अर्थात् निःशेष रूप का लय । इन तीनों विशेषणों से इच्छा, ज्ञान और क्रिया—शक्ति-त्रय-समन्विता भगवती अर्थात् षडैश्वर्य-शालिनी (छः प्रकार के ऐश्वर्य वा सामर्थ्य ये हैं—ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञान-विज्ञानयोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ।) का बोध होता है । यह सप्त-धर्मी-शक्ति अर्थात् अनुपहित चेतनता की परा-धर्म-शक्ति अर्थात् (अपर-रूपिणी) उपहित चेतनता-रूपा है । इसी को तुरीय ब्रह्म कहते हैं (अनुपहित चेतनता को तुरीयातीत ब्रह्म कहते हैं ।) 'अतुल' से तात्पर्य है अद्वितीय वा निर्द्वन्द्व से अर्थात् ऐसी कोई दूसरी शक्ति वा सत्ता नहीं है, जो इसकी तुलना कर सके ।

ब्रह्म के सोने का तात्पर्य भारत के इस वचन से भी ज्ञात होता है—'अव्यक्तके पुरे शेते पुरुषस्तेन कथ्यते' । पुरुष ही अव्यक्ता प्रकृति वा विलक्षण प्रकृति (सांख्य मत से) है । निद्रा की अवस्था का तात्पर्य ब्रह्म में और ब्रह्म-भावापन्न जीवन्मुक्तात्माओं में आत्म-रति से है, जिसको समाधि भी कहते हैं । 'ख्यातोऽयं पुरुषः श्रेष्ठः सर्वदात्म-रति-प्रियः' । शिव-मानस-पूजा में भी निद्रा का अर्थ समाधि दिया है—'पूजा ते विषयोपभोग-रचना निद्रा समाधि-स्थितिः' ।

'स्तौमि' अर्थात् स्तवन करता हूँ । यह केवल वचन पर लेने ही से सम्पादित नहीं होता । जन-साधारण ऐसा ही इसका तात्पर्य लेते है परन्तु स्तवन का अन्तस्तात्पर्य यथार्थ रूप में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी चारों प्रकार के शब्द-रूपों में नाद-द्वारा ब्रह्मैक्य-चिन्तन से है । श्रुति इसकी ऐसे ही अर्थ में इस प्रकार परिभाषा देती है—'परा पश्यन्त्यादि-निखिल-शब्दानां नाद-द्वारा ब्रह्मण्युप-संहार-चिन्तनेन स्तोत्रम्'—भावनोपनिषद् । इसी तात्पर्य से मण्डल ब्राह्मणोपनिषत् में स्तुति का लक्ष्यार्थ मौन कहा है 'मौनं स्तुतिः' । मौन की परिभाषा ब्रह्मैकता वा अखण्डाकार चित्त-वृत्ति की बोधिका है । ऐसा

कठोपनिषत् कहती है—"यच्छेद् वाङ्-मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेत् ज्ञानं आत्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।" १।३।१३ ।

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्-कारः स्वरात्मिका ।
सुधा त्वमक्षरे नित्ये! त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता ।।

टीका—तुम्हीं स्वाहा हो; स्वधा हो, वषट्-कार हो; तुम्हीं स्वर-रूपा हो । हे नित्य रहनेवाली! तुम अमृत हो; तुम (अक्षरों में) तीनों प्रकारों की मात्राओं में रहती हो ।

व्याख्या—'स्वाहा' देव-हवि का दान-मन्त्र है। इसके विना देव-गरण हवि को नहीं पा सकते । यह तदभिमानिनी वह्नि-शक्ति है। 'स्वधा' पितृ-हवि का दान-मन्त्र है, जिसके बिना पितृ-गरण सोमप और असोमप अर्थात् जो सोम-पान करते हैं और जो नहीं करते हैं, दोनों ही हवि नहीं पा सकते। यह तदभिमानिनी पितृ शक्ति है । 'वषट्-कार' देवता-विशेष का हवि-दान-मन्त्र है । यथा—'वषडिन्द्राय इति'—मन्त्र-लिंग से ।

इन तीनों—स्वाहा, स्वधा और वषट्-कार से भगवती का वाक्-काम-धेनु होना सिद्ध है। इस वाग्-रूपी गाय के स्वाहा-कार, वषट्-कार, हन्त-कार और स्वधा-कार-रूपी चार स्तन हैं। इनमें प्रथम दो से अर्थात् स्वाहा और वषट्-कार से देव-गरण की स्थिति है अर्थात् इन्हीं दोनों वाक्-शक्तियों से देवता लोग पालित होते हैं । हन्त-कार से मनुष्य और स्वधा-कार से पितृ-गरण पालित होते हैं। श्रुति कहती है—'वाचं धेनुमुपासीत । तस्याश्चत्वारः स्तनः स्वाहा-कारो वषट्-कारो हन्त-कारः स्वधा-कारः । तस्या द्वौ स्तनौ देवा उप-जीवन्ति स्वाहा-कारं च वषट्-कारम्। हन्त-कारं मनुष्याः स्वधा-कारं पितरः……'—बृहदारण्यक ब्राह्मण ।

इससे यह सिद्ध है कि भगवती शब्द-ब्रह्म-रूपिणी जिस प्रकार विश्व की सृजन-कर्त्री है, उसी प्रकार पालन-कर्त्री भी है। स्वर-रूपा का वाच्यार्थ उदात्तादि स्वर-रूपा है, किन्तु इसका अन्तस्तात्पर्य है (अक्षरों) वर्णों की शक्ति से। इसी से सोलहों स्वर 'अ' से लेकर 'अः' तक शक्ति-अक्षर कहे गये हैं। इन स्वरों के न रहने से अक्षर वा वर्ण पूर्ण नहीं होते। दूसरा तात्पर्य वेद के मन्त्रों के स्वर से है। स्वर-हीन पाठ को अशुद्ध पाठ कहा गया है। इससे अनिष्टापत्ति की सम्भावना है। 'इन्द्र-शत्रोर्वर्द्धस्व' में स्वर के उच्चारण से व्यतिक्रम का विपरीत फल सर्व-विदित है । इससे भगवती का वाग्-रूपिणी शक्ति की प्रधान स्वर-शक्ति होना सिद्ध है।

'नित्या' से उभय-परिणामिनी नित्या सत्ता का ही बोध होता है। नित्या सत्ता तीन प्रकार की है—१ अपरिणामिनी, २ सम-परिणामिनी और ३ विषय-परिणामिनी । प्रथम चिन्मात्र-वृत्ति, दूसरी अचिन्मात्र-वृत्ति और तीसरी उभय अर्थात् चित् और अचित (सत् और असत् जैसा श्रीकृष्ण भगवान् ने ब्रह्म की एक परिभाषा इस प्रकार गीता में कही है—'सदसच्चाहमर्जुन'—९।१९ । यह उपनिषदों के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सिद्धान्त का समर्थक है।) दोनों वृत्तिवाली है। दूसरी को अनित्या भी कह सकते हैं, कारण प्रलय-दशा में इसके रूप का अभाव हो जाता है। यहाँ नित्या से प्रकृति-पुरुष-साधारणी एका सत्ता का तात्पर्य है, जिसका नीर-क्षीर-वत् संयोग-सम्बन्ध है (नित्य-संयोग-वादियों के मतानुसार विभु-द्वय-संयोग-वत् ही यह सम्बन्ध है)।

'सुधा' का अर्थ है शरीर का पोषण करने-वाली । 'सुष्ठु दधाति पुष्णाति शरीरम् इति

सुधा'। यहाँ शरीर से शरीर-त्रय अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और पर तीनों से तात्पर्य है।

'अक्षरे' शब्द अक्षरा शब्द का सम्बोधनान्त भी है, जिसका अर्थ तीनों लोकों की भोक्त्री है— 'अश्नाति त्रीन् लोकान् भुंक्ते भूत-रूपत्वात् अक्षरा'। दूसरा अर्थ सर्व (त्रिलोक) व्यापिका शक्ति है-'अश्नुते व्याप्नोति विश्वात्मत्वात् अक्षरा', परन्तु यहाँ 'अक्षरं न क्षरं विद्यादक्षरं' तात्पर्य ही और सम्बोधनान्त के स्थान में सप्तमी-कारक हो युक्त बोध होता है। इस 'अक्षर' से तर्क-दर्शन के प्रतिकूल शब्द की नित्यता सिद्ध है (तर्क-दर्शन भी वैखरी शब्द मात्र को अनित्य कहते हैं। ऐसा ही तात्पर्य बोध होता है कारण परा, पश्यन्ती और मध्यमा शब्द-रूपों में तर्क का समावेश नहीं 'तर्का-प्रतिष्ठानात्'।)

अक्षर में 'त्रिधा मात्रात्मिका' से दो तात्पर्य हैं। प्रथम तो प्रत्येक अक्षर की शक्ति त्रिधा है अर्थात् ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत-रूपिणी तीन प्रकार की है और दूसरा विशिष्ट अक्षर प्रणव को त्रिमा-त्रात्मिका शक्ति-त्रय का तात्पर्य है। जिस प्रकार कोई भी वर्ण ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत मात्रा-रहित होने से शक्ति-हीन होता है, उसी प्रकार विशिष्ट अक्षर प्रणव भी मात्रा-हीन होने से अव्यवहार्य वा अकार्यक होता है। संक्षेप में 'त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता' से शब्द-ब्रह्म को मातृका-शक्ति से तात्पर्य है।

अर्द्ध-मात्रा-स्थिता नित्या यानुच्चार्य्या विशेषतः।
त्वमेव सा त्वं* सावित्री त्वं देवि* जननी परा॥

टीका—हे देवि! विशेष प्रकार से उच्चारित की जानेवाली आधी मात्रा में तुम सर्वदा रहनेवाली वही (शक्ति) हो। तुम्हीं परा-माता सावित्री (रूपा) हो।

व्याख्या—पूर्व-पद्य में भगवती की उभय-परिणामिनी नित्या सत्ता का रूप वर्णित है। इसमें अपरिणामिनी नित्या-सत्ता के रूप का उल्लेख है। पूर्व-कथित मात्रा-त्रय से जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति वा विश्व, तैजस् और प्राज्ञ इन तीन अवस्थाओं से तात्पर्य है। इन तीनों मात्राओं के रूप, लोक इत्यादि का श्रुतियों में इस प्रकार उल्लेख है—प्रथम मात्रा अकार का पृथ्वी-लोक, ऋग्वेद, ब्रह्मा वसु, गायत्री छन्द और अग्नि गार्ह-स्पत्य हैं। द्वितीय मात्रा उकार का अन्तरिक्ष लोक, यजुर्वेद, विष्णु-रुद्र आदि ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और अग्नि दक्षिणाग्नि हैं। तृतीय मात्रा (मकार अर्ध) का स्वर्ग-लोक, साम-वेद, रुद्र-गण-आदित्य-गण ऋषि, छन्द जगती और अग्नि आहवनीय हैं (देखिये अथर्व-शिखोपनिषत्)।

'अर्द्ध-मात्रा' से तुरीयावस्था का बोध होता

---

*'सा त्वं' के स्थान में दाक्षिणात्य पाठ 'सन्ध्या' है। सन्ध्या का अर्थ दिन और रात्रि को रखनेवाली है—'संधीयते दिवा-रात्री'। दूसरा अर्थ है सन्धि समय अर्थात् दिन और रात्रि के सन्धि-समय-द्वय प्रातः सन्ध्या और सायं-सन्ध्या। यह सन्ध्या पितरों की जननी है। इसकी कथा काली-पुराण में प्रसिद्ध है। इस भाव में सन्ध्या का तात्पर्य स्थूल देह की रात्रि अर्थात् अन्त और सूक्ष्म देह के प्रभात अर्थात् प्रारम्भ से है अर्थात् जीव स्थूल शरीर को छोड़ सूक्ष्म शरीर में, जिसका द्योतक पितृ-रूप है जाता है,।

*'देवि' के स्थान में 'वेद' दाक्षिणात्य पाठ है। वेद-जननी का तात्पर्य वेदाध्ययन की जननी वा एकमात्र कारण से है। कारण वेद का अध्ययन गायत्री महामन्त्र से दीक्षित हुए विना नहीं हो सकता है अर्थात् अदीक्षित को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है। वेद-जननी सावित्री का विशेषण-वाक्य है।

है। यही वेदान्त के 'तत् त्वमसि' आदि महा-वाक्यों की अर्थ-लक्षण-युक्ति की अभिमानिनी तुरीया विद्या है—'अर्द्ध-मात्रा-समायुक्तः प्रणवो मोक्ष-दायकः'—ध्यान-विन्दूपनिषत्। यही निस्त्रैगुण्या अर्थात् त्रिगुणों से परे परा-विद्या है। प्रणव की त्रि-मात्राओं से त्रि-गुण-द्योतक (उनके अधिष्ठातृ देवताओं) ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र से तात्पर्य है और इसकी अर्ध-मात्रा से परा-शक्ति से तात्पर्य है—'परमा अर्द्ध-मात्रा या वारुणी तां विदुर्बुधा।' नाद-विन्दूपनिषत्।

तीनों मात्राओं अर्थात् ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के उच्चारण सामान्य भाव से हैं, परन्तु इस अर्ध-मात्रा का उच्चारण एक विशिष्ट प्रकार से होता है, जो शास्त्रादि-द्वारा नहीं जाना जा सकता है, केवल गुरु-मुख हो से सम्यक् प्रकार जाना जाकर अपने अनुभव से उच्चारित हो सकता है। इसी से शास्त्रों में कहा गया—'या विशेषतः अनुच्चार्य्य-मिदमात्म-रूपत्वात्'' कारण 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।' श्रुति की विशेष-लक्षणा अर्द्ध-मात्रा के उच्चारण का वर्णन करना असम्भव-सा है। श्रुति भो ऐसा हो कहती है—'तदेतदुपासीत मुनयो वाग्वदन्ति न तस्य ग्रहणमयं पन्थाः'—अथर्व-शोर्षोपनिषत्।

ॐ-कार को अर्द्ध-मात्रा के उल्लेख के पश्चात् ॐकार से हुई सावित्रो का उल्लेख है। ऐसा ही युक्त है। जैसा श्रुति कहती है—'ॐ कारात् सावित्री सावित्र्या गायत्रो गायत्र्या लोका भवन्ति'—अथर्व-शिरः। यह सावित्री सविता देवता सूर्य्य की व्याहृति त्रय-रहिता (ऋक्) शक्ति है। इसो में व्याहृति-त्रय अर्थात् भूः, भुवः और स्वः संयुक्त होने से गायत्री का शब्द-स्वरूप निर्मित है, जिससे तीनों लोक व्याप्त हैं—'गायत्री वा इदं सर्वम्'—श्रुतिः।

इसका ब्रह्म-पारत्व ब्रह्म-सूत्र के गायत्र्यधिकरण के सूत्रों से सिद्ध है। संक्षेप में इतना ही कहना यहाँ पर्याप्त है कि चतुष्पदा गायत्री ही छन्द के रूप में ब्रह्म के अविद्या, विद्या, आनन्द और तुरीय चारों पाद की द्योतक है और ये ही क्रमशः चारों वेदों की जनयित्रियाँ (सृजन करनेवाली) हैं। गायत्री का चतुर्थ पाद 'परो रजसे सावदोम्' ही ब्रह्म का चतुर्थ तुरीय-पाद है। यह केवल मोक्ष-पाद होने से गृहस्थों के निमित्त अनुपयुक्त है अर्थात् कर्म-काण्ड के परे होने से इसे हटा दिया गया है। इसी से हम लोगों को त्रिपदा गायत्री की ही दीक्षा दो जाती है।

इसी से परा-माता कही गई है। कारण मूल-प्रकृति-रूपा अर्थात् अव्यक्ता प्रकृति ही अपनी व्यक्तावस्था की जननी है, जो महत्तत्वों की जननी वा सृष्टि करनेवाली है।

सम्बोधनान्त 'देवि' से 'दिव् क्रीड़ायाम्' लीला-मयी से तात्पर्य है, परन्तु इस शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति—'देवयति सर्वान् प्रवृत्ति-निवृत्त्युपदेशेन व्यवहारयति इति देवी' से विमर्श-शक्ति वा बुद्धि-शक्ति से तात्पर्य है। यहाँ दोनों तात्पर्यों का बोध होता है।

त्वयैतद् धार्य्यते विश्वं त्वयैतत् सृज्यते जगत्।
त्वयैतत् पाल्यते देवि ! त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा॥

टीका—हे देवि ! यह विश्व सर्वदा तुम्हारे ही द्वारा स्थित है; तुमसे ही यह जगत् उत्पन्न होता है; तुम्हसे ही यह पालित है और तुम्हीं इसका अन्त भी करती हो।

व्याख्या—यहाँ 'देवी' से क्रोड़ा-शीला अर्थात् लीला-मयी और व्यवहार-चतुरा अर्थात् धर्म-कुशला अर्थों से तात्पर्य्य है। उत्पत्ति-क्रिया परा-शक्ति की लीला-द्योतक है और शेष क्रियायें धर्म-रूपी नियति की द्योतक हैं अर्थात् वह अण्ट-सण्ट करनेवाली नहीं

है वरन् शृङ्खला-बद्ध हो उसकी क्रियायें होती हैं।

'विश्व' और 'जगत्' दोनों एकार्थ-वाचक शब्दों का प्रयोग भी सार-गर्भित है। यद्यपि वाह्य रूप से दोनों शब्दों का एक ही साधारण अर्थ संसार है किन्तु दोनों के पृथक्-पृथक् लक्ष्यार्थ वा सूक्ष्मार्थ हैं। विश्व नित्य है, कारण विश्व (विश्—उणादि क्वन्) का तात्पर्य्य व्यापक सत्ता से है। जगत् (गम्—शतृ) अनित्य है। यह संसार के सदृश गमन-शील भाव का द्योतक है। इसी हेतु सृजन, पालन और संहार क्रियायें इसी (जगत्) से सम्बद्ध हैं और धारण की व्यापक क्रिया विश्व से सम्बद्ध है। अतएव यहाँ पुनरुक्ति-दोष नहीं लग सकता है अर्थात् 'धार्य्यते' और 'पाल्यते' दोनों का एक-वाचक अर्थ नहीं है।

'सर्वदा' के भी दो अर्थ हैं। प्रथम साधारण अर्थ है सर्व-कालिक और दूसरा अर्थ है जब सर्वदा का 'सर्वं ददाति इति सर्वदा' भाव में अर्थ होता है अर्थात् सर्व अर्थात् त्रिगुण कृत्य की देने-वाली। 'सर्वदा आतोऽनुपसर्गे कः—टाप्।'

विसृष्टौ सृष्टि-रूपा त्वं स्थिति-रूपा च पालने।
तथा संहृति-रूपा ते जगतोऽस्य जगन्मये॥

टीका—हे जगत्-स्वरूपे! इस जगत् की विशेष रूप की सृष्टि के समय तुम सृष्टि-रूपा हो; पालन के समय स्थिति-रूपा हो और विनाश-काल में संहृति-रूपा अर्थात् संहार-रूपिणी शक्ति हो।

व्याख्या—'जगन्मये' जगत् को मया (जगतो मया) शब्द का सम्बोधनान्त रूप है। 'मयते या मया' होता है। 'मयते' का अर्थ है जाननेवाली (मया पचाद्यचि स्त्रियां टाप्)। इससे सर्वज्ञा से तात्पर्य्य है।

सृष्टि का तात्पर्य्य सर्जन है। यह सृष्टि विशेष-रूप की है अर्थात् साधारण रीति की, जिस प्रकार हम देखते हैं, नहीं है। अर्थात् क्रिया-सृष्टि नहीं है, वरन् इच्छा-सृष्टि है। इसी से विशिष्टा सृष्टि है। 'वि' से विशिष्ट जिस प्रकार भाव है, उसी प्रकार 'वि' से विकल्प भाव का भी बोध होता है। कारण यह जगत् चित् परा-शक्ति का सङ्कल्प-विकल्प मात्र है। श्रुति इसी हेतु कहती है—'संकल्प-विकल्पात्मकं जगत्'।

सृष्टि-रूपा से तात्पर्य्य सृष्टि-स्वभावा से है ('रूपं स्वभावे सौन्दर्ये'—कोषान्तर) सृष्टि-स्वभावा का लक्ष्यार्थ है सृष्टि की इच्छा-भाववाली शक्ति अर्थात् इच्छा-शक्ति-धारिणी धर्मी-शक्ति। यह लक्षण भी ब्रह्म-परत्व है, जिसका स्पष्टीकरण ब्रह्म-सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' से होता है।

'स्थिति-रूपा' से रक्षण-कर्त्री ज्ञान-शक्ति से तात्पर्य्य है। 'ब्रह्मणो लिंग हि त्रैलोक्य-रक्षणम्'। यह भी ब्रह्म-परत्व है।

'संहृति-रूपा' से क्रिया-शक्ति से तात्पर्य्य है। यह भी ब्रह्म-परत्व है। इसको हम ब्रह्म-सूत्र 'अत्ता चराचर-ग्रहणात्' के मनन से समझ सकते हैं। 'अदा अन्नेन तायते पालयति या सा' इस भाव में पालन-शक्ति का बोध होता है और 'अत्तृ' का अर्थ जब 'भोक्तृ' है, तब लयात्मिका शक्ति का बोध होता है। 'ग्रहण' का ही अर्थ संहरण है।

महा-विद्या महा-माया महा-मेधा महा-स्मृतिः।
महा-मोहा च भवती महा-देवी महासुरी॥

टीका—आप परा-विद्या, परा-माया, परा-सर्वज्ञत्व-शक्ति, सृष्टि के अनुकूल अतीत कल्प-गत सभी पदार्थों की स्मृति-रूपा अर्थात् जगत् में बड़े से छोटे तक को ध्यान में रखनेवाली स्मृति-शक्ति, संसार के मूल कारण राग-रूप मोह-स्वरूपा, सकल देव-शक्ति-स्वरूपा (महती चासौ देवी) अर्थात् समस्त दैवी सम्पत्ति-रूपा शक्ति और सकल असुर-

शक्ति-स्वरूपा अर्थात् समस्त आसुरी सम्पदा-रूपा शक्ति हैं।

व्याख्या—इस पद्य से यह तात्पर्य है कि भगवती विरुद्ध-वाक्यार्थ-शरीर-मण्डला है। यह महा-विद्या भी है और महा-अविद्या भी; यह महा-मेधा भी है और महा-मोहा भी; यह महा-देवी भी है और महा-आसुरी भी। ये परस्पर-विरुद्ध वाक्य हैं। यही ब्रह्म की प्रधान परिभाषा है। ऐसा श्रुतियाँ भी कहती हैं—'विद्याहमविद्याहम्। वेदोऽहमवेदोऽहम्' इत्यादि—देव्युपनिषत्। गीता भी ऐसा ही कहती है, किन्तु इनके अन्तस्तात्पर्य एक ही हैं, जो पदार्थ के तत्व-शोधन से बोध होते हैं। (देखिये वेदान्त-सार)

महा-विद्या से तात्पर्य 'तत्त्वमसि' आदि महा-वाक्य-लक्षणा वेदान्त-प्रतिपादित महाविद्याओं से है। अथवा आगमोक्त ब्रह्म-परक दश-महा-विद्याओं से भी तात्पर्य है। ये आत्माकार वृत्तियों की द्योतक हैं।

महामाया से तात्पर्य सब विषयों में सच्चिदानन्द लक्षणा-रूपी आत्मा में अनात्मता-बुद्धि से है। अर्थात् अनात्म-देह-गेहादि में आत्म-बुद्धि-रूपा ही महामाया है, जो प्रपञ्च का कारण है। इसको अन्यत्राकार विभासिनी अर्थात् विपरीत-भावना कहते हैं।

महास्मृति का तात्पर्य समष्टि-रूप की टीका में ही कहा गया है। व्यष्टि में इसी को संस्कार-जन्य यथार्थ ज्ञान कहते हैं, जो आत्मा में रहती है और जिससे ब्रह्मैक्य-भाव रहता है। इस 'महा-स्मृति' से दूसरा तात्पर्य है स्मृति (अष्टादश-स्मृति) के महा-वाक्यार्थों से। ये स्मार्त्त महा-वाक्य 'तत्त्वमसि' आदि श्रौत महावाक्यों के ही बोधक हैं। अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि सुने (श्रौत) महा-वाक्यों को ध्यान में रखना ही स्मृति है। इसी उत्कृष्ट धारणा-शक्ति को महा-स्मृति कहते हैं।

महादेवी से यहाँ तात्पर्य है दैवी सम्पत्तियों की उत्कृष्ट शक्ति से। इन्हीं दैवी सम्पदाओं से जीव का अविद्या-रूपी बन्धन हटाया जाकर मोक्ष होता है। जैसा गीता कहती है—'दैवी-सम्पद् विमोक्षाय'—१६।५।

महासुरी से यह तात्पर्य नहीं है कि भगवती बड़ी राक्षसी है, किन्तु इससे यह तात्पर्य है कि आसुरी सम्पदाओं की भी उत्कृष्ट शक्ति यही है। यही निबन्ध का कारण है। 'निबन्ध (निशेष-रूपेण बन्धः) का तात्पर्य है जीव की आवृतावस्था से। यही अविद्या प्रपञ्च का मूल कारण है प्रश्न हो सकता है कि इसका तात्पर्य वा उपयोगिता क्या है? यह प्रपञ्च ब्रह्म के आनन्द-उपभोग के निमित्त अनिवार्य है। इसके बिना प्रपञ्च रह ही नहीं सकता। इसी हेतु ब्रह्म अपने को छिपाकर अर्थात् महा-मोह-रूपी विभ्रम-शक्ति से अपने को आवृत कर संसार को रंग-मञ्च बना एक से अनेक हो द्वन्द्व समास-रूप में दैवी और आसुरी दोनों सर्गों की सहायता से लीला करता हुआ आनन्द का उपभोग करता है।

'आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्म-रूपं,
जीवेश्वरत्व जगदाकृतिभिर्मृषैव।
अज्ञानमावरण-विभ्रम-शक्ति-योगा—
दात्मत्व-मात्र विषयाश्रयतावलेन॥'

प्रकृतिस्त्वं च सर्वस्य गुण-त्रय-विभाविनी।
कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणा॥

टीका—तुम सभी के तीनों सत्व, राजस् और तमोगुणों के लक्षणों की अनुवर्त्तन-शीला प्रकृति मूल कारण हो अर्थात् प्रकृति को तीनों गुणों में व्यक्त करनेवाली हो; पुनः तुम काल-रात्रि, महा-रात्रि और दारुण (रात्रि) रूपिणी हो।

व्याख्या—प्रकृति का साधारण अर्थ है स्वभाव। स्वभाव सम्बद्ध गुण को कहते हैं। गुण दो प्रकार के होते हैं। एक सम्बद्ध गुण, जो गुणी का अपना वैयक्तिक स्वाभाविक गुण है। दूसरा संयोग गुण जो दूसरे पदार्थ के संयोग से ही उत्पन्न होता है। यह दूसरे के संयोग अवस्था तक ही रहता है। अतएव प्रकृति से धर्म-शक्ति का ही तात्पर्य है यह चित परा-धर्मी-शक्ति (अव्यक्ता प्रकृति) की अभिन्ना धर्म-शक्ति व्यक्ता प्रकृति है। (इसी धर्मी-शक्ति को कोई पुराण-पुरुष कहते हैं, तो कोई पर-शिव कहते हैं। तात्पर्य कि इसकी अनेक संज्ञायें है। यथा तार्किक कर्त्ता, सांख्यवाले प्रकृति विलक्षण रूप पुरुष, मीमांसक (पूर्व-वेदान्ती) ईश्वर, उत्तर-वेदान्ती ब्रह्म, वैयाकरण शब्द-ब्रह्म, शैव शिव, इत्यादि अपने-अपने मनोकुल संज्ञाओं द्वारा 'उस' एक को व्यक्त करते हैं।

यह 'गुण-त्रय-विभाविनी' इस हेतु कही गयी है कि यह अपने को तीनों गुण के रूपों में व्यक्त वा प्रकाशित करती है। प्रकृति, जैसा पूर्व कह चुके हैं, दो प्रकार की है—एक अव्यक्ता और दूसरी व्यक्ता। 'गुण-त्रय विभाविनी' से विशेषिता प्रकृति यहाँ व्यक्ता प्रकृति है।

'काल-रात्रि' के एकाधिक तात्पर्य हैं। इसके सम्बन्ध में भूमिका में पूर्व कुछ लिखा जा चुका है, तथापि इतना और उल्लेख करना युक्त है कि काल-रात्रि से काल-रात्रि की अधिष्ठातृ देवता वा शक्ति का तात्पर्य है। यह रात्रि वा अवसानावस्था काल की है। इसी हेतु इसको काल-रात्रि कहते हैं। तात्पर्य कि काल की परिच्छिन्न भाव से अनिर्व-चनीया, अव्यवहार्य्या, अलक्षणा चित्-परा आद्या-शक्ति में लयावस्था को कालरात्रि कहते हैं। यही काली का 'कालस्य कलनात् काली' द्योतक अर्थ है। इसके और भी तात्पर्य हैं, किन्तु मुख्य तात्पर्य ऐसा ही है। इसी को व्यष्टि-भाव में कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी और अमावास्या की योग-रात्रि को काल-रात्रि कहते हैं। यह आद्या और द्वितीया महा-विद्या-द्वय की प्रशस्त तिथि है। देखिये शक्ति-संगम, काली-खण्ड, त्रयोदश पटल।

'महा-रात्रि' (महतः ईश्वरस्य रात्रिः) का एक अर्थ है ब्रह्मा की मुक्ति उपलक्षिता रात्रि अर्थात् ब्रह्मा (ईश्वर-त्रय का एक ईश्वर) की लयावस्था। यह आश्विन शुक्लाष्टमी तिथि है। दुर्गा की प्रशस्त तिथि है।

'मोह-रात्रि' (अकर्त्तव्ये कर्त्तव्याग्रहो मोहः तस्य रात्रिः) का मुख्य तात्पर्य है मोह के नाश की अवस्था से। अर्थात् मोह की नाश करनेवाली प्रकाश वा विज्ञान-शक्ति ही मोह-रात्रि की अधि-ष्ठातृ शक्ति है। यह कृष्ण-जन्माष्टमी तिथि है। आद्या की प्रशस्त तिथि है।

'दारुणा' रात्रि की हरिवंश में इस प्रकार व्याख्या है—'दारुणा दारुणत्वं चास्याः दुःपरिह-रत्वेन भीषणा। अस्यास्तनुः तमो द्वारा निशा दिवस-नाशिनी।' यह काल-रात्रि की पर्य्याय-वाचक संज्ञा है, कारण निशा-दिवस-नाशिनी का अर्थ है काल-परिणाम नाशिनी अर्थात् काल-काली की संयुक्त ऐक्यावस्था अर्थात् महा-प्रलय। "तृतीया माधवे शुद्धा कुल-वारर्क्ष-संयुता। दारुणा कीर्त्तिता देवि..." अर्थात् वैशाख शुक्ला तृतीया कुल-वार (मंगल वा शुक्र) और कुल-नक्षत्र-संयुता होने से ही दारुणा रात्रि है।

इनके अतिरिक्त अनेक रात्रियाँ हैं। देखिये शक्ति-संगम, काली-खण्ड, १३ पटल

त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी त्वं ह्रीस्त्वं बुद्धिर्बोध-लक्षणा।
लज्जा पुष्टिस्तथा तुष्टिस्त्वं शान्तिः क्षान्तिरेव च॥

टीका—तुम लक्ष्मी, ऐश्वर्य-शक्ति, संकोच

(लज्जा), अन्तःकरण और अध्यवसाय-व्यापारा हो। पुनः तुम अकरणीय कार्य करने में पर-ज्ञान-शङ्का से दुःख-रूपिणी वृत्ति, उपचय-रूपा, दूसरे अर्थात् अनधिगतार्थ के अतिरिक्त में तुच्छ वा हेय बुद्धि-रूपा, विषय-व्यावृत्ति लक्षण की उपशम रूपा हो और अनुपकारता वा अपराध सहने की शक्ति हो।

व्याख्या—लक्ष्मी (श्रीयते सर्वैरिति श्रीः—लक्ष्मीः) शब्द के भी एकाधिक अर्थ हैं। 'श्रिञ् सेवयाम् क्लिव् दीर्घा' के भाव में दूसरा ही अर्थ है। विश्व-मेदिनी में लक्ष्मी का अर्थ त्रि-वर्ग-सम्पत्ति-वाचक है—'श्रीर्वेष-रचना शोभा भारती सरल-द्रुमे। लक्ष्म्यां त्रि- वर्ग-सम्पत्तौ वेषोपकरणे मतौ'। किन्तु यहाँ लक्ष्मी (लक्षयतीति लक्ष्मीः) से विज्ञान-शक्ति का तात्पर्य है।

ऐश्वर्य-शालिनी को ही ईश्वरी कहते हैं। यह ऐश्वर्य-शक्ति अव्याहतेच्छा वा अव्यर्थ कामना अर्थात् इच्छानुकूल ही कार्य करने की स्वतन्त्र क्षमता है।

लज्जा की पुनरुक्ति है अर्थात् ह्रीः और लज्जा दोनों एकार्थवाचक शब्दों का उल्लेख है, परन्तु इन दोनों में सूक्ष्म भेद है। 'ह्रीः' वाचक लज्जा दूसरे प्रकार की है अर्थात साधारण लज्जा से पृथक् है। 'ह्रीः' अकरणीय वैमुख्य लज्जा है और 'लज्जा' से एक विशेष प्रकार के दुःख का तात्पर्य है जैसा टीका में उल्लेख है।

बुद्धि का विशेषण 'बोध-लक्षणा' है, ऐसा भी कह सकते हैं। अर्थात् अध्यवसाय-रूपिणी बुद्धि (बुद्ध्यते अनया) से अन्तःकरण का तात्पर्य है। यहाँ बोध-लक्षणा बुद्धि से अव्यवसायात्मिका बुद्धि का तात्पर्य है, कारण बोध-लक्षणा से ब्रह्म-बोध वा ज्ञान-लक्षणा का तात्पर्य है।

'पुष्टि' का तात्पर्य स्थिति-शक्ति से है। वैसे तो पुष्टि से अनात्माकार-वृत्तियों की पुष्टि अर्थात् विपरीत भावनाओं की पुष्टि वा वृद्धि का भी बोध हो सकता है, परन्तु यहाँ ब्रह्म की स्व-स्थिति की पुष्टि से ही तात्पर्य है। यही स्थिति शक्ति-व्यष्टि में आत्माकार-वृत्ति को दृढ़ करनेवाली ज्ञान-शक्ति वा विमर्श-शक्ति है। इसको अन्तर्मुखी वत्ति कह सकते हैं।

तुष्टि से परात्म-विषयक निरञ्जनात्मक वृत्ति से अर्थात ब्रह्म में 'एकोऽहं बहु स्याम्' को अनिच्छा-वृत्ति का तात्पर्य है। यही तुष्टि व्यष्टि में आत्म-रति-द्योतक है। इससे ब्रह्म-भावना के अतिरिक्त अर्थात् अनात्माकार-वृत्ति-बोधक विषयों में हेय बुद्धि का तात्पर्य है।

तुष्टि का ही सहकारी गुण शान्ति है। समष्टि में विषय-व्यापार-रहितावस्था को शान्ति कहते हैं और व्यष्टि में ग्यारहों इन्द्रियों के निग्रह को शान्ति कहते हैं। (प्रशान्त के श्रुति-कथित लक्षण हैं 'अन्ध-वत् पश्य रूपाणि शब्दं बधिर-वच्छृण। काष्ठ-वत् पश्य वै देहं प्रशान्तस्येति लक्षणम्'—अमृत-नादोपनिषत्।)

क्षान्ति का टीका में कथित तात्पर्य व्यष्टि-भाव-बोधक है। यही समष्टि में अर्थात् ब्रह्म में विरोधी गुणों यथा सत्व, राजस और तामस गुणों के समावेश से तात्पर्य है। यह भगवती चित्—परा-शक्ति के 'विरुद्ध-वाक्यार्थ-शरीर-मण्डला' होने के सिद्धान्त का समर्थन करता है। वाह्य रूप में (द्वैत-भाव में) पराम्बा के अपने सन्तानों वा भक्तों के अपराधों की क्षमा करनेवाली होने का द्योतक है।

खड्गिनी शूलिनी घोरा गदिनी चक्रिणी तथा।
शङ्खिनी चापिनी बाण-भुशुण्डी-परिघायुधा ॥ ९ ॥

टीका—(तुम) खड्ग, शूल, गदा और चक्र धारण करनेवाली (हाथों में रखनेवाली) भयङ्कर-रूपा हो; और शङ्ख, धनुष, बाण, बन्दूक तथा भाला (अस्त्र और शस्त्र) धारण करनेवाली हो।

व्याख्या—'खड्गिनी' से भेद-वृत्ति का तात्पर्य है। 'खडि् भेदने'। खड्गिनी की व्युत्पत्ति है 'खण्डति परं खण्डयते अनेन इति 'खड्गः'। विश्व-मेदिनी कोश के अनुसार खड्गः का तात्पर्य बुद्धि-भेद वा द्वैत-बुद्धि से है 'खड्गो गण्डक-श्रृङ्गासि बुद्धि-भेदे च गण्डके'।

'शूल' से त्रिशूल अर्थात् त्रि-ताप का तात्पर्य है। 'शूलिनी' से त्रिशूल वा त्रिताप-हारिणी शक्ति का तात्पर्य है यथा दुर्गा से दुर्ग अर्थात् विपत्-नाशिनी, काली से काल अर्थात् काल-भय-नाशिनी का तात्पर्य है।

'गदा' का अन्तस्तात्पर्य आद्या विद्या से है। गदा की श्रौत परिभाषा है—'आद्या विद्या गदा वेद्या सर्वदा मे कर-स्थिता'—गोपालोत्तर-तापिन्युपनिषत्। अतएव 'गदिनी' से यही बोध होता है कि भगवती आदि-विद्या की रखनेवाली है अर्थात् आद्या (ब्रह्म) विद्या से ही व्यक्ता है।

'चक्र' मन का द्योतक है। श्रुति कहती है 'मनश्चक्रं निगद्यते'। इससे यह बोध होता है कि भगवती ही मन की व्यापार-शीला शक्ति है—'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया'। मन भी ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरा पदार्थ नहीं है। ऐसा श्रुति कहती है 'मनो हि आत्मा, मनो हि लोको, मनो हि ब्रह्म, मन उपास्येति'—छान्दोग्योपनिषत् ७।३।१।।

'घोरा' का तात्पर्य भीषणा है, जो ब्रह्म का एक विशिष्ट लक्षण है (देखिये नृसिंह-पूर्व-तापिनी द्वितीयोपनिषत्)। ब्रह्म का विराट् रूप घोर अर्थात् डरावना है ही। गीता भी ऐसा ही कहती है। (देखिये ११ वाँ अध्याय, ४६ वाँ श्लोक)।

'शंख' का लक्ष्यार्थ पञ्च-भूतात्मक प्रपञ्च है। ऐसा श्रुति कहती है—'पञ्च-भूतात्मकं शंखं करे रजसि संस्थितम्'। अतएव 'शंखिनी' से भगवती का प्रपञ्चेश्वरी होना बोध होता है। अथवा शंखिनी (शंखनति जनयति। खन् अवदारणे।) का दूसरा लक्ष्यार्थ प्रकृति की जननी (मूल कारण) है।

चाप अर्थात् धनुष रखनेवाली चापिनी है। 'प्रशस्तश्चापोऽस्यास्तीति चापिनी'। साधारण चाप वा धनुष बाँस का होता है, जैसा इसका वाच्यार्थ है 'चपस्य वंश-भेदस्य विकारश्चापः,' परन्तु यह विशिष्ट (प्रशस्त) चाप है। ये चाप और वाण तन्त्र-प्रतिपादित श्रीत्रिपुर-सुन्दरी ब्रह्म (महा) विद्या के समान अन्तस्तात्पर्य रखनेवाले हैं। इनकी दार्शनिक व्याख्या अस्मदीय 'आनन्दलहरी' की श्यामानन्ददायिनी व्याख्या में विशद रूप से की गई है। तथापि संक्षेप में इतना कहना युक्त है कि इनका तात्पर्य क्रमशः मन और पञ्च-तन्मात्रा से है। 'शब्दादि तन्मात्राः पञ्च-पुष्प-वाणाः। मन इक्षुधनुः'—भावनोपनिषत्। व्यष्टि में इन दोनों धनुष और शरों का तात्पर्य आत्मा के परम (चरम) लक्ष्य को वेधित करने के अस्त्र अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान-प्राप्ति करने के साधन से है। मन के धनुष पर वेदान्त महा-वाक्य-रूपी शरों से लक्ष्य-रूपी ब्रह्म को वेधित करने के साधन के द्योतक धनुष और वाण हैं। ऐसा श्रुति भी कहती है 'धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं हि उपासानिशितं सन्दधीत। आयम्य तद् भाव-गतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि'—मुण्डक ·।२।३।

'भुशुण्डी' का वाच्यार्थ लोह-नलिका अर्थात् लोहे के नालोंवाला आयुध है। इसको आजकल बन्दूक वा वन्दूख कहते हैं, परन्तु भुशुण्डी (भुवः शुण्डे च दीर्घत्वात्) का लक्ष्यार्थ है पञ्च-तन्मात्राओं के क्रिया-स्वरूप भावों के मार्ग अर्थात् विषय-विकाशिनी चित्त-वृत्तियाँ। संक्षेप में इसका तात्पर्य व्यवसायात्मिका सर्वतोमुखी बुद्धि से है। इसी हेतु इसको चतुर्भुज भी कहते हैं "गोलकौ यष्टिर्वा

भुशुण्डीति चतुर्भुजः'। (इसको कोई शतघ्नी भी कहते हैं)

'परिघ' (परितो हन्यते अनेन इति परिघः। परिघोऽस्त्रे योग-भेदे परिघातेर्गलेऽपि च इति हैमः।) और 'शूल' में नाम-मात्र का भेद है। साधारणतया शूल भाले वा बर्छे को कहते हैं। शूल का अन्तस्तात्पर्य अन्तःशूल वा ताप को दूर करनेवाला आयुध अर्थात् साधन है। शूल से अविद्या की विक्षेप-शक्ति का तात्पर्य है। अतएव यह आयुध उस विशेष यथार्थ ज्ञान का द्योतक है, जिससे जीव के भौतिक, दैविक और आत्मिक तीनों शूल वा ताप दूर होते हैं। परिघ का तात्पर्य अर्थात् वाह्य-शूल का तात्पर्य उस यथार्थ विशेष ज्ञान से है, जिससे अविद्या की आवरण-शक्ति हटती है। यहाँ यह ध्यान रखना उचित है कि अविद्या की दो ही शक्तियाँ हैं—एक विक्षेप और दूसरी आवरण। 'अस्याज्ञानस्य (अविद्यायाः) आवरण-विक्षेप-नामकमस्ति शक्ति-द्वयम्'—वेदान्त-सार।

इस प्रकार भगवती वा ब्रह्म के उग्र वा घोर रूप का वर्णन है। इसके पश्चात् सौम्य रूप का वर्णन आता है।

सौम्या सौम्य-तराशेष-सौम्येभ्यस्त्वति-सुन्दरी।
परा पराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी॥ १०॥

टीका—तुम्हीं सुन्दरी, सुन्दरी से भी सुन्दरी और सभी सुन्दरियों से अति उत्कृष्टा सुन्दरी हो; तुम्हीं बड़ी, बड़ी से भी बड़ी और इससे भी बड़ी ऐश्वर्य-शालिनी हो (अर्थात् तुमसे बड़ी सत्तावाली और कोई नहीं है)।

व्याख्या—सौम्या का एक अर्थ प्रशान्ता वा प्रसन्न-मुखी है। सोम चन्द्रमा को कहते हैं, कारण चन्द्र अमृत उत्पन्न करनेवाला है। 'अमृतं सूते इति सोमः'। चन्द्र मनोज्ञ वा सुन्दर है। सुन्दरता इसका लक्षण है। अतएव सौम्य (सोमोद्भवः सौम्यः) का लक्ष्यार्थ सुन्दर है। सुन्दरी का तात्पर्य सुष्टु अर्थात् सुन्दर आनन्द देनेवाली है। 'सुष्टु नन्दयति इति सुन्दरी।' सुन्दर आनन्द अमृतत्व ही है। संक्षेप में पद्य के प्रथम चरण का तात्पर्य यह है कि भगवती ज्ञान की, जिससे सत्य आनन्द होता है, प्रथम भूमिका से लेकर सप्तम चरम तुरीया भूमिका-रूपिणी है। दूसरा तात्पर्य यह भी है कि सुन्दरी विद्या अर्थात् हादि-कुल की विद्याओं में प्रथम से लेकर महा-त्रिपुरसुन्दरी महा-ब्रह्म-विद्या तक यही भगवती भिन्नाभिन्न रूपों में व्यक्ता है। कालिकापुराण भी कहता है—'जगत्-त्रयेऽपि यस्यास्तु सदृशी काऽपि सुन्दरी। नान्यास्ति ललिता तेन देवी ललित-कान्तिका'। सुष्ट का दूसरा तात्पर्य भी है (सुष्ट अतीव उनत्ति। उन्दी क्लेदने सुपूर्वः बाहुलकादरः शकन्ध्वादित्वात् पर-रूपम्) गौरी इत्यादि से।

द्वितीय चरण के एकाधिक तात्पर्य हैं। 'पराणां परमा परा त्वमेव परमेश्वरी' ऐसा अन्वय करने से 'पराणाम्' अर्थात् ब्रह्मादि महा-देवताओं से भी बड़ी। श्रुति-वाक्य भी है 'यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्' भावार्थ कि जिसको चाहूँ ऋषि और सुबुद्धिमान् की क्या कथा ब्रह्मा भी बना दूँ।' इस भाव में ब्रह्मादि ईश्वरों से भी बड़ी चरम सत्ता का तात्पर्य है और 'परा पराणां परमा···' ऐसा अन्वय करने से पर और अपर दोनों देवताओं से बड़ी है ऐसा तात्पर्य है। पर से ब्रह्मादि त्रिदेवों का और अपर से इन्द्रादि दश दिक्पालों का तात्पर्य है। इससे इस शंका का समाधान होता है कि इन्द्रादि के पालक त्रिदेव हैं वा वही परा महा-शक्ति। इसका देवी-सूक्त (वैदिक) के 'अहं मित्रा-

वरुणोभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नो···'वाक्य से भी स्पष्टीकरण होता है। संक्षेप में इसका यह तात्पर्य है कि 'तेरे सिवा दूसरी कोई सत्ता नहीं है।' इससे तीसरा तात्पर्य यह भी बोध होता है कि वाक् शक्ति (शब्द-ब्रह्म) की पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी-रूपिणी अपरा और परा वाक्-शक्ति से भी परमा अर्थात् बड़ी शक्ति भगवती अनिर्वचनीया अनाख्या-शक्ति है।

यहाँ यह ध्यान रखना उचित है कि बड़ो के उल्लेख से निर्द्वन्द्वत्व में भेद नहीं आता अर्थात् दूसरी किसी भी सत्ता का बोध नहीं होता। 'परमा' से मूल सत्ता का ही बोध होता है, जो अपने को अार छोटी-छोटी सत्ताओं में व्यक्त करती है। इस भाव का स्पष्टीकरण इसके अव्यवहित पर-पद्य से होता है।

यच्च किञ्चित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाऽखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य यो शक्तिः सा त्वमसि स्तूयसे तदा॥११॥

टीका—हे विश्व-रूपिणी! जो कुछ भी नित्य और अनित्य पदार्थ हैं, उन सबको तुम शक्ति-रूपा हो। तुम्हारी स्तुति किस प्रकार हो सकती है?

व्याख्या—इस पद्य में भगवती के सर्व-मयत्व-गुण का वर्णन हुआ है। अखिल का अर्थ है सम्पूर्ण अर्थात् निःशेष। इसकी आत्मिका से तात्पर्य है स्व-रूपा का अर्थात् भगवती अव्यक्त और व्यक्त, नित्य और अनित्य, चित् और अचित् दोनों है वा परस्पर-विरुद्धार्थ-रूपा है। यही ब्रह्म की सर्व-व्यापकता का लक्षण है। इसी को उभय-परिणामिनी सत्ता कहते हैं, जिससे ब्रह्म वा चित् परा-शक्ति का निर्द्वन्द्वत्व सिद्ध है। भगवती स्वयं अपनी लक्षणा का उल्लेख सप्तशती के दसवें अध्याय में इन शब्दों में करती है—'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा'। इसी को श्रुति इन वाक्यों में कहती है—'ब्रह्म-व्यतिरिक्तं किञ्चिन्नास्ति। व्यतिरिक्तं यत्किञ्चित् प्रतीयते तत सर्वं बाधितमिति निश्चितम्।'

असत् (अचित्) भी ब्रह्मांश ही है। यह ब्रह्म का अविद्या-पाद है। प्रकृति की यह व्यक्तावस्था है, ऐसा भी कह सकते हैं। व्यक्त की ही स्तुति हो सकती है। अदृष्ट, अव्यवहार्य, अलक्षण, अव्यक्त इत्यादि की स्तुति नहीं हो सकती है।

यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत पातात्ति यो जगत्।
सोऽपि निद्रा-वशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः॥१२॥

टीका—जो संसार का सृजन, पालन और संहार करनेवाला है, वही जब तुम्हारे द्वारा निद्रा में वशी-भूत है, तो कौन ईश्वर भी तुम्हारी स्तुति कर सकता है?

व्याख्या—'स्रष्ट', 'पाता' और 'अत्ता' से इच्छा, ज्ञान और क्रिया—शक्ति-त्रय का बोध होता है। यद्यपि 'अत्ता' के दोनों अर्थ हैं—पालन-कर्त्ता (अदा अन्नेन तायते पालयति) भी और संहार-कर्त्ता (अतृ इति भोक्तृ) भी। तथापि यहाँ संहार-कर्त्ता से ही तात्पर्य है। 'ईश्वर' से ब्रह्मा (स्तुति-कार), विष्णु, रुद्र, सूर्य और गणेश पाँचो ईश्वरों से तात्पर्य है।

व्यापक शक्ति (सत्ता) ब्रह्म में असंख्य ब्रह्माण्ड हैं। (ब्रह्माण्ड को गोलक भी कहते हैं।) प्रत्येक ब्रह्माण्ड के एक-एक ब्रह्मा, एक-एक विष्णु और एक-एक रुद्र और इन्द्रादि दश-दिक्पाल रहते हैं। जब एक ब्रह्माण्ड का लय होता है, तब इन पाँचों ईश्वरों का भी लय होता है। इसी से शास्त्रों में 'ब्रह्मादयः प्रतिदिने प्रलयाभिभूताः' वा 'विरञ्चिः पञ्चत्वं व्रजति हरिराप्नोति विरतिं विनाशं कीनाशो भजति धनदो याति निधनम्' इत्यादि भाव-समर्थक

वाक्य मिलते हैं। श्रीमद्देवीभागवत में इसी भाव के पौराणिक कथानक दिए हुए हैं।

'निद्रा' से तात्पर्य है अव्यवसायात्मिका बुद्धि से। यह समष्टि वा ब्रह्म की तुरीयावस्था की द्योतक है और व्यष्टि वा जीव की सुषुप्तावस्था वा असंप्रज्ञातावस्था की। वश करनेवाली न उपाधि है और न दूसरी कोई स्वतन्त्र शक्ति है। यह ब्रह्म का स्वाभाविक संकोच-गुण है, जैसे कि ब्रह्म का स्वाभाविक गुण है विकाश। अतएव शक्ति-ब्रह्म के क्रीड़ा-साधन (खिलौना) सदृश ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादि ईश्वरों द्वारा इस परमा, अमिता, अचिन्त्या शक्ति की स्तुति क्या हो अर्थात् होनी असम्भव है।

इससे चित् परा-शक्ति का अनिर्वचनीया होना सिद्ध है।

विष्णुः शरीर-ग्रहणमहमीशान एव च।
कारितास्ते यतोऽतस्त्वां कः स्तोतुं शक्तिमान् भवेत्॥

टीका—तुमने विष्णु, रुद्र को और मुझे जन्म दिया है। अतएव (हममें) कौन तुम्हारी स्तुति करने में समर्थ है? (अर्थात् कोई भी नहीं)।

व्याख्या—यह पद्य पूर्वोक्त पद्य का समर्थक है। पालन, संहरण और सृजन इन तीनों व्यापार-रूपी कार्यों का मूल कारण चित् परा-शक्ति है। कार्य को कारण का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता है। अतएव कारण के स्तवन वा चिन्तन में कार्य की असमर्थता स्वयं-सिद्ध वा स्वाभाविक है।

अब अगले दो पद्यों में ब्रह्मा की प्रार्थना है, जो स्वभावतः चिन्तन वा स्तवन के पश्चाद् होती है—

सा त्वमित्थं प्रभावैः स्वैरुदारैर्देवि संस्तुता।
मोहयैतौ दुराधर्षावसुरौ मधु-कैटभौ॥ १४॥

टीका—हे देवि! अपने असाधारण विशेष सामर्थ्यों के वर्णन-द्वारा प्रार्थित तुम दुःसाध्य बलवाले मधु और कैटभ इन दोनों असुरों को मोह में डाल दो।

व्याख्या—'देवी' से यहाँ तात्पर्य है निवृत्ति करनेवाली महाशक्ति से। इसका विजिगिषा-शीला के भाव में यहाँ प्रयोग हुआ है। 'दुर्वृत्त-वृत्त-शमनं तव देवि शीलम्' का तात्पर्य्य यहीं स्पष्ट बोध होता है। दुर्वृत्तियों का नाश करनेवाली गुणवती भगवती से ब्रह्मा ने प्रार्थना की है। इसी को ब्रह्मा ने पूर्व पद्य में महाविद्या कहा है। दुराधर्ष का अर्थ जय में दुःसाध्य। दोनों असुर अर्थात् द्वन्द्व-मोह का जय (मोह पर जय पाना) अति कठिन है। अतएव मधु और कैटभ-रूपी मोह-द्वन्द्व दुराधर्ष (धर्षणे वा जये दुःसाध्य) कहा गया है। 'मोहय' का तात्पर्य है अविवेक में लाने से। विवेक है सजातीय प्रवाहवाही और अविवेक है विजातीय प्रवाहवाही। अतएव 'मोह में डाल दो' से तात्पर्य यह है कि दोनों की आक्रमण की अनुकूल क्रिया को बदल दो।

जिस प्रकार अहङ्कार * का नाश पर-अहङ्कार से, जो वाञ्छनीय है, राग ** का पर-राग से, लय *** का प्रलय से ही होता है, उसी प्रकार मोह का नाश पर-मोह से होता है। नाश का तात्पर्य अभाव से है। यथा 'अहं इदम् वा शरीरस्थ जीवः' के अभाव में 'अहं सः वा ब्रह्म' का भाव आता है,

---

* अहङ्कार मुख्यतः दो प्रकार के हैं। पर-अहङ्कार के, जो वाञ्छनीय है, होने से अपर-अहङ्कार अर्थात् अविद्या का नाश होता है। देखिये महोपनिषत् ९०, ९१, ९२।

** राग भी दो प्रकार के हैं। देखिये मुक्तिकोपनिषत् ६१। पर राग वा अनुराग ही भक्ति है।

*** लय भी दो प्रकार के हैं। अपर-लय जड़ता है। देखिये वेदान्त-सार की सुवोधिनी टीका।

रात्रि-सूक्त-व्याख्या *

जिससे 'अहं जीवः' भाव का नाश होता है। तर्क (न्याय) से घट के अभाव से भी घट का बोध होता है। दूसरे विष से विष का नाश होता है--'विषस्य विषमौषधम्' ऐसा भी कह सकते हैं।

प्रबोधं च जगत्-स्वामी नीयतामच्युतो लघु।
बोधश्च क्रियतामस्य हन्तुमेतौ महासुरौ ॥ १५ ॥

टीका—संसार के स्वामी को, जो अपने पद से न्यून नहीं होते, जल्दी जगा दो। (इन्हें) दोनों बड़े असुरों को मारने की बुद्धि दो।

व्याख्या--'जगत्-स्वामी' से तात्पर्य है अभिन्न ऐश्वर्य-शाली निर्द्वन्द्व सत्तावाला ('स्वामी--स्वाभिन्नैश्वर्य इति स्व-शब्दान्मत्वर्थीय आमि नच्')। 'अच्युत' का तात्पर्य नित्य अनपचया शक्तिवाले से है अर्थात् जिसकी शक्ति (धर्म-शक्ति) कभी घटती नहीं है। 'लघु' का साधारण अर्थ हलका है किन्त यहाँ शीघ्रता है 'लघु क्षिप्रतरं द्रुतम् इति अभिधानात्'। 'महासुरौ' का तात्पर्य है दो बड़े असुरों अर्थात् आसुरी-सम्पत्तिवालों से। असुर तो बहुत हैं अर्थात् आसुरी सम्पदायें अनेक हैं किन्तु इनमें मोह द्वन्द्व हो बड़े हैं। अतएव इनके विशेषण 'महा' है।

'बोध' से ज्ञान वा पदार्थ-ज्ञान अर्थात् बुद्धि का तात्पर्य है। 'बुद्धि-युक्तो जहातीह'—गीतोक्त वचन यहीं' चरितार्थ होता है। यहाँ बुद्धि से व्यवसायात्मिका बुद्धि से ही तात्पर्य है। कारण जब तक कर्त्तव्यता रहती है, तब तक बुद्धि व्यवसायात्मिका वा क्रिया-शीला है। बुद्धि क्रिया-शीला वा व्यक्ता प्रकृति के आठ अङ्गों में से एक प्रधान अङ्ग (भाग) है। यही पद लयावस्था में अव्यवसायात्मिका होकर रहती है। इसी भाव को तन्त्रोक्त त्रिपुटी—ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञय की लयावस्था कहते हैं। यह अनाख्यावस्था है।
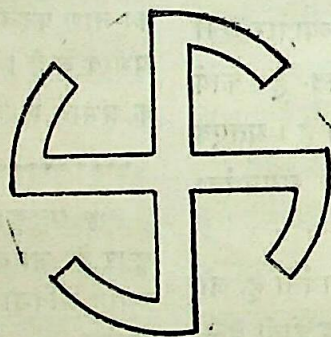
अर्थादि-स्तुति

अर्थ-ज्ञान-हीन पाठ का फल अत्यन्त अल्प होता है, शास्त्रों का यही सर्व-सम्मत सिद्धान्त है। यह साधारण बुद्धि से भी समझा जा सकता है कि अगर हम यह न समझें कि हम किससे क्या प्रार्थना कर रहे हैं, तो फल पाने में अवश्य गोलमाल होगा। अगर हम भूखे हैं परन्तु प्रार्थना करते हैं जल वा वस्त्र के निमित्त, तो जल वा वस्त्र मिलने से भी हम भूखे ही रह जायेंगे। इस हेतु अपने प्रार्थना-मन्त्र वा स्तवन का अर्थ-ज्ञान रखना आवश्यक है। यह तो हुई सकाम पाठ के सम्बन्ध में कर्त्तव्यता।

निष्काम पाठ में आध्यात्मिक रहस्य-ज्ञान वा लक्ष्यार्थ-ज्ञान आवश्यक है। अन्यथा मनन और निदिध्यासन हो ही नहीं सकते। केवल श्रवण मात्र से सिवा संस्कार वनने के विशेष फल नहीं होता है। प्रयोग-विधि का समावेश इस निमित्त है कि यह प्रयोग शास्त्रोक्त नहीं है। यह अनुभव-सिद्ध मात्र है। इस सुकर प्रयोग से दीक्षित भक्त-साधक-मण्डली अवश्य लाभान्वित होगी।

दीक्षित भक्त और साधक की संक्षिप्त व्याख्या—

दीक्षित से तात्पर्य्य है दश महाविद्या-मन्त्र वा नवार्ण-मन्त्र में दीक्षित व्यक्ति से। इसी हेतु परशुराम-कल्प-सूत्र आदेश देता है—"तत्र सर्वथा मति-मान् दीक्षेत्" अर्थात् उस अवस्था में सभी दशाओं में बुद्धिमान् दीक्षित हो। भक्त से तात्पर्य्य है आर्त्त और ज्ञानी भक्त से। हम जितना ही ज्ञानी होकर आर्त्त-भाव से प्रार्थना करेंगे, उतना ही फल होगा। इसी हेतु दूसरों के द्वारा पाठ कराने से विशेष फल नहीं होता है, कारण हम अपने निमित्त जितना आर्त्त होंगे, उतना दूसरा, चाहे कितनी भी दक्षिणा दें, आर्त्त नहीं हो सकता।

साधक से तात्पर्य्य है उस व्यक्ति से, जो शास्त्रोक्त गुरूपदिष्ट विधि के अनुसार ही, अर्थात् स्वतन्त्र विचार से नहीं, नित्य इष्ट-साधन करता है। कारण नित्य-कर्म के सर्वथा अभाव में नैमित्तिक कर्म का फल पूर्ण नहीं होता है। गुरूपदिष्ट शास्त्रोक्त विधि का लघन करने से साधन तामस हो जाता है—

विधि-हीनमसृष्टान्नं मन्त्र-हीनमदक्षिणम्।
श्रद्धा-विरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥

—गीता।, १७।१३

विधि-हीन का अर्थ शास्त्र-विधि के विपरीत है। असृष्टान्न का अर्थ है योग्य ब्राह्मण को विना अन्न-दान किये अर्थात् विना ब्राह्मण-भोजन कराये। मन्त्र-हीन अर्थात् विना दीक्षा लिये वा मन्त्रार्थ-हीन, स्वर और वर्ण से वियुक्त यथा-संख्या पूर्ण करने में व्यस्त हो जल्दी-जल्दी मन्त्र का उच्चारण करने में स्वर का विघटन करनेवाला अर्थात् जो दीर्घ वा प्लुत का ह्रस्व उच्चारण करे। यथा 'ह्रीं' का 'ह्रिं' और वर्ण वा अक्षर का लोप करे।

'अदक्षिणम्' अर्थात् दक्षिणा-रहित। तान्त्रिक कर्मों में दक्षिणा पुरोहित को न देकर केवल गुरु और गुरु के अभाव में उसके पुत्रादि और उनके भी अभाव में देवता के नाम से दक्षिणा उत्सर्ग कर योग्य

पात्र को दे, ऐसा आदेश है।

श्रद्धा-विरहित से तात्पर्य्य है पूर्ण विश्वास-रहित केवल परीक्षा-निमित्त। इससे अनिष्टापत्ति वा उलटे हानि की ही सम्भावना रहती है—

यः शास्त्र-विधिमुत्सृज्य वर्तते काम-कारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
—गीता १६।२३

शक्रादि-स्तुति का रहस्य हृदयङ्गम करने के पूर्व इसका परिचय, मध्यम चरित का संक्षिप्त कथानक और इसके आध्यात्मिक वा दार्शनिक रहस्य का सिंहावलोकन आवश्यक है।

यह मार्कण्डेय मुनि द्वारा क्रोष्टुकी मुनि के प्रति कही गई आठवें मनु की कथा के अन्तर्गत है। कथानकों में ब्रह्म-विद्या की विवेचना छिपी है। जिस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के ७०० श्लोकों में ब्रह्म-विद्या का प्रतिपादन है, उसी प्रकार चण्डी वा सप्तशती के ७०० मन्त्रों में पौराणिक कथानक के रूप में अन्तर्लक्ष्य हो ब्रह्म-विद्या का प्रतिपादन है। अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि गीतोक्त ब्रह्म-विद्या को स्थूल रूप देकर भगवान् व्यास ने इसको लिखा है। वास्तव में दोनों के सामञ्जस्य को देखकर यही कहना पड़ता है कि दोनों एक ही वस्तु हैं। हाँ, नाम और रूप—वाह्य रूप में भेद है। यह भेद भी बाधित है, यथार्थ में नहीं, कारण—

(१) गीता का प्रतिपादित ब्रह्म सप्तशती-प्रतिपादित दुर्गा-ब्रह्म से भिन्न नहीं है। 'दुर्गा' का शब्दार्थ (दुर+ग—गमने वा ज्ञाने दृप्) हो वाचातीता चित्-परात्परा शक्ति वा दुर्गमा नित्या शक्ति है। इसकी वेदोक्त व्याख्या संक्षेप में इस प्रकार है—

'यस्याः पर-तरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्त्तिता।'

अर्थात् जिसके ऊपर कोई दूसरी सत्ता नहीं है, वही दुर्गा है।

दुर्गा के मुख्य ध्यान 'विद्युद्दाम-सम-प्रभां०' के रहस्य की विवेचना से भी यह ब्रह्म—पूर्ण ब्रह्म ही बोध होती है। 'विद्युद्दाम' से तेजोराश्यात्मिका वा परं ज्योति से तात्पर्य्य है, जो ब्रह्म-द्योतक ही है और जिसको गीता ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

दिवि सूर्य्य-सहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदिभाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥
—गीता ११।१२

श्रुति भी इस सिद्धान्त का समर्थन करती है—'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः' अर्थात् सूर्य्य, अग्नि, चन्द्र आदि प्रकाशकों को प्रकाश देनेवाली शुभ्र वा निर्मल ज्योति हो ब्रह्म है। ब्रह्म-सूत्र 'ज्योतिर्दर्शनात्' का भी यही तात्पर्य है। वृहदारण्यक तो स्पष्ट कहता है—'विद्युद् ब्रह्म' (५।७) अर्थात् विद्युत् (बिजली) हो ब्रह्म है। इसो तेजोमय ब्रह्म से सूर्य्य प्रकाश पाते हैं—'येन सूर्य्यस्तपति तेजसेद्धः' (तैत्तरीय ब्राह्मण ३।१२।६।७)। इसका कारण भी श्रुति इन शब्दों में व्यक्त करती है—

'अथ कस्मादुच्यते वैद्युतं? यस्मादुच्चार्य्यमाण एव महसि तमसि द्योतयति तस्मादुच्यते वैद्युतम्।'
—अथर्वशीर्षोपनिषत्

(२) 'दुर्गा' का एक विशेषण भीषणा है और गीता-प्रतिपादित बहुदंष्ट्रा, कराल और उग्र-रूपी ब्रह्म एक ही नित्य-पदार्थ के व्यञ्जक हैं। श्रुति भी भीषणत्व को ब्रह्म का एक लक्षण मानती है—'अथ कस्मादुच्यते भीषणं? यस्माद् भीषणं यस्य रूपं दृष्ट्वा सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि भीत्या पलायन्ते, स्वयं यतः कुतश्च न विभेति। भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः ' इत्यादि (नृ० पू० ता०)।

भावार्थ है कि जिसका डर देवगण तक को होता है, मनुष्यादि जीवों की क्या कथा। जिसको

सबसे बड़ा होने से किसी दूसरे का डर नहीं है। जिसके डर से पवन चलता है, सूर्य्य तपता है अर्थात् जिसके डर से संसार का सारा काम चलता है। ऐसा कौन है ? पूर्ण ब्रह्म !

(३) 'दुर्गा' का वाहन-रूपी सिंह धर्म्म का द्योतक है। सप्तशती का वैकृतिक रहस्य कहता है–'सिंहं समग्रं धर्ममोश्वरम्।' इससे 'दुर्गा' धर्म की गोप्त्री हुई, जिस प्रकार गीता का ब्रह्म—'शाश्वत-धर्म्म-गोप्ता' (११।१८) है।

(४) 'दुर्गा' कन्याओं से वेष्टिता ब्रह्म है, जिस प्रकार गीता-प्रतिपादित ब्रह्म अष्ट-प्रकृति–'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' (७।४) से वेष्टित है।

(५) अनेकायुधा 'दुर्गा' ही गीतोक्त 'किरीटिनं गदिनं चक्रिणं' इत्यादि आयुधवाली ब्रह्म है।

इसी प्रकार अन्यान्य विषयों में भी मनन करने से सामञ्जस्य का बोध होता है। तात्पर्य्य यह है कि ब्रह्म-विद्या 'दुर्गा' का प्रतिपादन वेद में समास-रूप में है। यह तथ्य हम ऋग्वेदीय वाक्य––'जातवेदसे सुनवाम सोम मरातोय तो निदहाति वेदः। सनः पर्षदति दुर्गाणि विश्वाना वेवसिन्धुं दुरितात्यग्निः' से जान सकते हैं। उपनिषदों में आत्मा के रूप में, तन्त्रों में महाविद्या-रूप में और पुराणों में 'लोक-वत् लोला' ––ब्रह्म-सूत्र के अनुसार कथाओं के रूप में है। प्रकृत विषय भी द्वितीय चरित के अन्तर्गत है और इसका आध्यात्मिक वा दार्शनिक रहस्य निम्न प्रकार है—

सृष्टि के मध्य-काल में खण्ड-प्रलय की सन्ध्या अर्थात् ब्रह्म या सृष्टि-कर्त्ता के वदलने के समय की यह कथा है। ब्रह्मा की आयु सौ वर्ष की होती है और यह देवासुर-संग्राम सौ वर्ष तक होता रहा—

'द्वौ भूत-सर्गौ लोकेऽस्मिन् देव आसुर एव च'–गीता

इसी सर्ग-द्वय का वेदान्त ने आत्माकार और अनात्माकार-वृत्ति के रूप में प्रतिपादन किया है। देव-सर्ग सत्व-गुण-द्योतक और आसुरी सर्ग तमो-गुण-प्रधान रजो-गुण का द्योतक है। देवासुर-संग्राम का तात्पर्य्य इन दोनों के संघर्ष से हो है। यह व्यष्टि और समष्टि अर्थात् जीव (पिण्डाण्ड) और ब्रह्म (ब्रह्माण्ड) में समान भाव से अनवरत होता रहता है। अन्यथा प्रपञ्च वा संसार चल ही नहीं सकता। ऐसा संघर्ष वा देवासुर संग्राम एक ब्रह्मा अर्थात् एक सृष्टि तक चलता रहा। इसको साधारण शब्दों में धर्म और अधर्म का युद्ध भी कह सकते हैं।

महिषासुर आसुरी दल अर्थात् अधर्मों का नेता 'मोह' था। महिष 'क्रोध'-व्यञ्जक है—

'मह् पूजायाम्-महति-मह्यतेचा महिषः। महिषः क्रोधः। 'लुलायो महिषो वाहद्विषत् कासर-सैरिभाः'––अमर-कोषः।

क्रोध का परिणाम मोह है–'क्रोधाद् भवति सम्मोहः'—गीता। अतएव महिष से 'मोह' का ही तात्पर्य्य है।

यह मोह काम-रूप अर्थात् इच्छानुसार रूप धरनेवाला है। यथा मोह-वश आत्मा कभी आलस्य, कभी लोभ, कभी काम इत्यादि आसुरी भावापन्न हो जाता है। इसी भाव को महिषासुर द्वारा मनुष्य (पुरुष पुरतीति पुरुषः), सिंह और गज रूप का धारण करना व्यक्त करता है।

मोह सात प्रकार का है, जैसा श्रुति कहती है–"१ वीजं तथा २ जाग्रत् ३ महा-जाग्रत्तथैव च, ४ जाग्रत्स्वप्नस्तथा ५ स्वप्ना ६ स्वप्न-जाग्रत् ७ सुषुप्तिकम्। इति सप्त-विधो मोहः…"––महोपनि-

शक्रादि-स्तति ❀

षत्। इनको 'अज्ञानभूस्सप्तपदाः' कहते हैं, जिनके पौराणिक रूप पातालादि सप्त अधोलोक हैं। इसी प्रकार 'ज्ञानभूस्सप्त-पदाः' भूः, स्वः आदि ऊर्द्ध सप्त-लोकों के पौराणिक रूप हैं।

महिषासुर के चिक्षुरादि चौदह सेना-नायक वा सहायक थे। यह सप्त-द्वन्द्व गीतोक्त आसुरी सर्ग हैं। इसी मोह से पुरन्दर—'पुरं अरेः पुरं दारयतीति पुरन्दरः' अर्थात् धर्म वा दैवी सम्पदाओं के नेता 'ज्ञान' का संघर्ष हुआ। पुरन्दर का वाच्यार्थ इन्द्र है परन्तु लक्ष्यार्थ 'ज्ञान' है, कारण मोह वा अज्ञान का नाश 'ज्ञान' से ही होता है। अरि अर्थात् शत्रु केवल 'अज्ञान' है। यही आदि शत्रु है, जिससे काम-क्रोधादि छहो रिपु उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य्य कि ज्ञान और अज्ञान वा आत्माकार-वृत्ति और अनात्माकार-वृत्ति में संघर्ष सृष्टि में होता रहा, होता रहता है और होता रहेगा।

जब तक दैवी सम्पदायें वा देव-गण काफी बलवान थे, तब तक आसुरी सम्पदाओं वा असुर-गण से मुकाबला होता रहा। अन्त में 'मोह' (महिषासुर) वा 'अज्ञान' का सब प्रकार से सृष्टि वा आत्मा पर आधिपत्य हो गया। इससे धर्म्म-समूह वा दैवी सम्पदा वा देव-गण का सर्वथा अभाव हो गया, जिससे प्रलय (महा-प्रलय नहीं किन्तु खण्ड-प्रलय) हो गया। तब दैवी सम्पदा ब्रह्मा वा इच्छा-शक्ति को ले विष्णु और रुद्र अर्थात् ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति के शरणागत हुई।

यह उचित ही था, कारण आत्मा का विवेक जब नष्ट हो जाता है, तब केवल इच्छा-शक्ति से काम नहीं चलता है। ज्ञान और क्रिया अर्थात् ज्ञान के परिपाचन से ही अविवेक वा अनात्माकार-वृत्ति का दमन होता है।

ज्ञान और क्रिया-शक्ति के नेतृत्व में दैवी सम्पदायें एकत्रित हो पूर्ण बलवती हुईं और उन्होंने 'मोह' की सहकारी सम्पदाओं का नाश कर अन्त में स्वयं 'मोह' का नाश कर समष्टि-रूप में शृंखलता वा विवेक की स्थापना की। इस एकत्रित शक्ति की ही दार्शनिक संज्ञा 'बुद्धि'—सम्यगवस्थिता 'बुद्धि' है, जो ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड (जीव) में समान प्रकार से निवास करती है। यह चेतना-शक्ति की अव्यवहित अपरा बुद्धि-शक्ति है—

'या देवी सर्व-भूतेषु बुद्धि-रूपेण संस्थिता।'

यही द्वितीय चरित का संक्षेप में दार्शनिक रहस्य है। मेधा ऋषि अर्थात् आत्म-ज्ञान-लक्षणोपेत बुद्धि। 'मेधया आत्म-ज्ञान-लक्षणया प्रज्ञया'-गीता शांकर भाष्य। यह बुद्धि सुरथ अर्थात् प्रज्ञात्मा ('सुरथः सुष्ठु रम्यतेऽत्र अतः सत्य-प्रवृत्ति-मार्ग-पथिकः') को अथवा शान्तनवी, नील-कण्ठी आदि टीकाकारों के मत से 'रमन्तेऽस्मिन् रथः, शोभनो रथो यस्य सः सुरथः' अर्थात् जिसकी वृत्ति आत्मा की ओर है, सर्वथा अन्तर्मुखी न होते हुए भी सत्पथ पर ही है, उसको और समाधि (समः पर्यायः आधिः मनोव्यथा यस्यासौ समाधिः) अर्थात् आध्यात्मिक ताप से तापित आत्मा को सद्-विमर्श देती है।

मेधा, सुरथ और समाधि को दार्शनिक दृष्टि से क्रमशः प्राज्ञ, विश्व और तैजस् कह सकते हैं। ये एक ही आत्मा को तीन अवस्थायें हैं। प्रज्ञावस्था के पश्चात् ही तुरीयावस्था आती है अर्थात् सविकल्प समाधि के परे निर्विकल्प समाधि है। इस मध्य चरित की नायिका महालक्ष्मी हैं। 'सर्वस्याद्या महालक्ष्मीः' अर्थात् महालक्ष्मी आद्याशक्ति वा काली है। ऐसा प्राधानिक रहस्य कहता है। शक्रादि-स्तुति में भी इनका भद्रकाली कहकर उल्लेख है—'तथैत्युक्त्वा भद्रकाली बभूवान्तर्हिता नृप'। यही प्रकाश आदि

शक्ति वा चिद्-ब्रह्म काली है, जो भद्र अर्थात् कल्याण—परम कल्याण वा मोक्ष देनेवाली कलन 'संकलन' वत् उत्पन्न वा सृष्टि करनेवाली है। भद्र-काली का अर्थ है—'भद्रं शुद्धात्म-विज्ञानं भद्र-लोकानुरूपं मङ्गलं च वा कलयति जनयति इति भद्र-काली'। यद्वा —'भद्रं शुद्धात्म-विज्ञानं जीव-ब्रह्मैक्य-रूपं कलयतीति भद्रकाली'। इस निर्वचन के अनुसार 'भद्रकाली' शब्द का अर्थ शुद्ध आत्म-विज्ञान अर्थात् यथार्थ तत्व-ज्ञान वा आत्म-ज्ञान देनेवाली विमर्श-शक्ति-युक्ता प्रकाश-शक्ति है। इस प्रकार बुद्धि (विमर्श-शक्ति) के परे प्रकाश-शक्ति अर्थात् प्रकाश वा ज्ञान देनेवाली भद्रकाली (महालक्ष्मी) है। यही दुरासद काम-रूप 'मोह' (महिषासुर) का नाश करनेवाली है। इस भाव को गीता इस प्रकार व्यक्त करती है —

'एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो काम-रूपं दुरासदम्॥'
—३।४३

प्रकाश-शक्ति अपने अनन्य शरणागतों को ही विमर्श-शक्ति वा बुद्धि देती है, जिससे शरणागतों के सङ्कटों वा त्रितापों का नाश होता है। यही गीता भी कहती है—

तेषां सतत-युक्तानां भजतां प्रीति-पूर्वकम्।
ददामि बुद्धि-योगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
—१०।१०
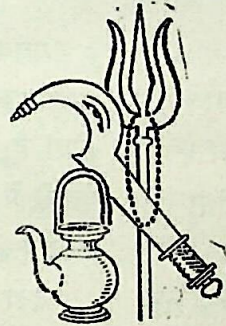
शक्रादि-स्तुति-व्याख्या

ऋषिरुवाच ।। १ ।।

टीका--ऋषि बोले ।

व्याख्या--यह ऋषि सुमेधा हैं, जो सुरथ अर्थात् सत्य-प्रवृत्ति-मार्गान्वेषी वा कर्म-योगी और समाधि अर्थात् निवृत्ति-मार्गान्वेषी वा ज्ञान-योगी वा मुमुक्षु से देवी परमा शक्ति के प्रति देव-गण द्वारा किए गए स्तवन को कहते हैं ।

पौराणिक कथानक के दृष्टिकोण से 'उवाच' भूत-वाचक है अर्थात् 'कहा' ऐसा बोध होता है, किन्तु दार्शनिक दृष्टि-कोण से 'कहते हैं' ऐसा बोध होता है, कारण बुद्धि मन से अथवा प्रबुद्ध आत्मा जिज्ञासु आत्मा से बोधन-हेतु अनवरत कहती रहती है ।

शक्रादयः सुर-गणा निहतेऽतिवीर्ये
तस्मिन् दुरात्मनि सुरारि-बले च देव्या ।
तां तुष्टुवुः प्रणति नम्र-शिरो-धरांसा
वाग्भिः प्रहर्ष-पुलकोद्गम-चारु-देहाः ।।२।।

टीका--देवी द्वारा उस महाबली दुरात्मा और देव-शत्रु-समूह का नाश होने पर इन्द्रादि देव-गण हर्ष से रोमाञ्चित-शरीर हो शिर व कन्धे झुकाकर उन देवी की वचनों द्वारा स्तुति करने लगे ।

व्याख्या--'देवी' या प्रकाश शक्ति द्वारा महाबली वा दुरासद दुर्दुष्ट आत्मा वा काम-रूप मोह-ग्रस्त आत्मा अर्थात् आत्मा के अज्ञान का नाश और सुरारि-बल या धर्म-शत्रु-समूह अर्थात् मोह की सहकारी आसुरी सम्पदाओं का नाश होने पर इन्द्रादि देव-गण अर्थात् मुक्तात्माओं ने अपनी समस्त दैवी सम्पदाओं सहित भगवती चित् शक्ति का प्रकर्ष हर्ष अर्थात् परमानन्दावस्था में आकर रोमाञ्चित अर्थात् सत्य-आनन्द-लक्षण-युक्त हो चारु-देह अर्थात् दिव्य देह हो अर्थात् दिव्य-भावापन्न हो प्रणति-नम्र अर्थात् लीन-शक्ति हो (कारण प्रणाम वा नमस्कार का भाव सम्वेश वा ऐक्य हो जाना ही है) वचनों अर्थात् शब्दों की जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा चारों प्रवृत्तियों से, जो एक दूसरे सिद्धान्त से परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूपों में व्यक्त होती है, अन्तरात्मा-रूपा परात्मा को प्रसन्न किया ।

यह परा शब्द-ब्रह्म है, जो अनपायनी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म शब्द का रूप है । यह पश्यन्ती में ज्ञान-रूप होता है, मध्यमा में स्मृति वा स्मरण-ग्राह्य और वैखरी में घट-पट आदि शब्द की निष्पत्ति रूप में होता है ।

देवा ऊचुः ।।

टीका--देव-गण कहने लगे ।

व्याख्या--कहने अर्थात् आनन्द-प्रकाश करने लगे । इस प्रकाशन से कर्त्ता की मनन और निदिध्यासन दोनों क्रियायें होती हैं और दूसरों की श्रवण, मनन और निदिध्यासन वा ज्ञान-परिपाचन क्रियायें होती हैं ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कात्यायनी इत्यादि तन्त्रोक्त दाक्षिणात्य क्रम के मन्त्र-विभागों में "देव

ऊच:" का समावेश नहीं है। यह चिदम्बर-संहितोक्त मन्त्र-विभाग में होने से और युक्त होने से मैथिल-क्रम में है। युक्त इस हेतु है कि सम्वादोल्लेख में कहाँ पर किसने क्या कहा (कहनेवाले का नाम) यह देना उचित है। अध्याहार का समावेश अगर सभी स्थानों में हो, तो एक बात है, किन्तु एक स्थान पर करना और दूसरे स्थान पर न करना अयुक्त है।

देव्या यया ततमिदं जगदात्म-शक्त्या
निःशेष-देव-गण-शक्ति-समूह-मूर्त्या ।
तामम्बिकामखिल-देव-महर्षि--पूज्यां
भक्त्या नताः स्म विदधातु शुभानि सा नः ॥३॥

टीका—समस्त देवताओं की शक्ति के समूह के स्वरूपवाली जो देवी अपनी शक्ति से इस संसार में व्याप्त हैं, उन अखिल देव-महर्षियों की पूज्या अम्बिका को हम भक्ति से नमन करते हैं। वे हमारा कल्याण करें।

व्याख्या–हम सेव्य-सेवक-भाव से अर्थात् ग्राह्या-लम्बनोपासना अथवा पृथक् सत्ता वा द्वैत-भाव से माता कल्याण-जननी शक्ति वा ब्रह्म-योनि (पुरुषं ब्रह्म-योनिं—श्रुतिः) के भक्ति-पूर्वक अर्थात् अनन्य भाव से शरणागत हो अर्थात् ऐक्य-भावापन्न हो नत अर्थात् सकाम वा निष्काम रूप से दीनता ग्रहण करते हैं।

कारण दान होने पर ही दैवी सम्पदा की भिक्षा मिलता है—

"द दाने दीनेभ्यः श्रियमनिशमात्मानुसदृशीम्"—
—शंकराचार्य्य।

दीनता से ही आत्मा देह-गेह आदि के अभिमान से मुक्त होता है—

"प्रणामो देह-गेहादेरभिमानस्य नाशनम्"
शक्रादि-स्तुति-व्याख्या ❀
—पद्मपादाचार्य्यं।

यही प्रत्यगात्मा का तादात्म्य-सम्बन्ध है। यह जननी कैसी है? विश्व-मातृ-शक्ति ने, जो देव और महर्षि अर्थात् रजोगुण और सत्वगुणवानों की आराध्या है अर्थात् ग्राह्यालम्बनोपासक और ग्रहणा-लम्बनोपासकों को पूज्या है, जगत् वा सारे प्रपञ्च-को आत्म-शक्ति से अर्थात् अपनी इच्छा मात्र से अर्थात् किसी के वश में न होकर "उर्णनाभ-तन्तु" वत् व्याप्त कर रखा है—"मया ततमिदं सर्वं जगद-व्यक्त-मूर्तिना"—गीता। यह आत्म-शक्ति कैसी है? यह समस्त दैवी सम्पदाओं की एकत्रित तेजोराशि है। ऐसी महाशक्ति अर्थात् चित् और अचित् पूर्ण-शक्ति-ब्रह्म हम लोगों का कल्याण करे अर्थात् त्रितापों से रक्षा करे। इससे विग्रहवती होती हुई भी देवी का सर्वात्मकत्व सिद्ध है।

मातृ-भाव की उपासना तीन प्रकार की है—ग्राह्यालम्बना, ग्रहणालम्बना और ग्रहीत्रालम्बना। ग्राह्यालम्बना स्थूल वाह्य तेजो रूप है। यह जननी से आकांक्षित भोजन, पान, कपड़े इत्यादि काम्य लाभोपाय जैसी उपासना है। ऐसी उपासना तीन वर्ष से ऊपर का बच्चा करता है, जब उसमें शब्द द्वारा अपनी इच्छा प्रकट करने की शक्ति आ जाती है। संक्षेप में इसका तात्पर्य्य है सकाम उपासकों से यथा सुरथ की उपासना ग्राह्यालम्बना थी। ग्रहणा-लम्बना में उपासक अनन्य भाव से सद्योजात शिशु-वत् माता ही पर निर्भर करता है। उसका एकमात्र आश्रय माता की गोद है अर्थात् उसे अज्ञान मात्र में अनुराग है और किसी अन्य विषय में नहीं, जैसे ग्राह्यालम्बना में है। इसके उदाहरण सप्तशती-कथानक के समाधि वैश्य थे। ग्रहीत्रालम्बना में उपासक भ्रूण अर्थात मातृ-गर्भ-स्थित बच्चे की

भाँति माता की तरह ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञाता है—"गर्भे नु सन् नन्वेषामवदेमहम्"—ऐत्तरेयोपनिषत्। इसका उदाहरण महर्षि वामदेव हैं। इस सर्वोच्च-भाव में उपासक की पृथक् सत्ता नहीं रहती। यह सम्प्रज्ञातावस्था वा तादात्म्य की पराकाष्ठा है। ये योग-दर्शन की सम्प्रज्ञात समाधि की तीन समापत्तियाँ हैं। ऐसा—"क्षीण-वृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीत ग्रहण-ग्राह्येषु तत्स्थ तदञ्जनता-समापत्तिः" योग-सूत्र के मनन से बोध होता है।

यस्याः प्रभावमतुलं भगवाननन्तो
ब्रह्मा हरश्च नहि वक्तुमलं बलञ्च !
सा चण्डिकाखिल-जगत्-परिपालनाय
नाशाय चाशुभ-भयस्य मतिं करोतु ॥ ४॥

टीका—जिनके अतुल प्रभाव और बल का कथन करने में भगवान् विष्णु, ब्रह्मा और महेश भी असमर्थ हैं, वे चण्डिका सारे जगत् के पालन और अशुभ भय के नाश के लिए ध्यान दें।

व्याख्या—जिसका 'प्रभाव' अर्थात् प्रकृष्ट भाव या प्रताप वा तेज (स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोश-दण्डजम्—इति अमर-कोषः) 'अतुल' वा निरुपम अर्थात् बेजोड़ है और जिसका वर्णन करने में 'भगवान्' अर्थात् षडैश्वर्य्यवान्, 'अनन्त' अर्थात् जिसका अन्त नहीं है अर्थात् विष्णु, 'ब्रह्मा' अर्थात् ब्रह्म-प्रतिपादक वा वेद कहनेवाले और 'हर' अर्थात् महादेव वा देवों में सबसे बड़े देव भी असमर्थ हैं, ऐसी वह अनिर्वचनीया परा-शक्ति 'चण्डिका' (पर-ब्रह्म-लिङ्ग-व्यञ्जिका) समस्त जगत् के पालन के लिए और अकल्याणकारी बाधाओं का नाश करने के लिए अपना ध्यान दे।

जिस प्रकार वह ज्ञान वा प्रकाश है, उसी प्रकार वह अविद्या वा माया भी है—

'यच्च किञ्चित् क्वचिद्-वस्तु सदसद्वाऽखिलात्मिके तस्य सर्वस्य या शक्तिः।'

उसकी कृपा के विना अविद्या वा दैवी माया से उद्धार नहीं है—

दैवी ह्येषा गुण-मयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
—गीता ७।१४

संक्षेप में इसका यह भाव है कि पराख्या धर्मी शक्ति का ज्ञान उसकी इच्छा, ज्ञान और क्रिया-रत धर्म-शक्तियों द्वारा भी, जो विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र से व्यक्त होती हैं, नहीं हो सकता, जब तक कि उसकी ऐसी इच्छा न हो।

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृत-धियां हृदयेषु बुद्धिः।
श्रद्धा सतां कुल-जन-प्रभवस्य लज्जा
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम् ॥५॥

टीका—जो सत्कर्मियों के घरों में स्वयं लक्ष्मी, पापियों के घरों में अलक्ष्मी, साधुओं के हृदय में बुद्धि, सज्जनों में श्रद्धा, कुलीनों में लज्जा-रूप से है, उन तुमको हम नमन करते हैं। हे देवि! विश्व का परिपालन करो।

व्याख्या—जो पुण्यात्माओं के 'भवन' वा वास-स्थान अर्थात् शरीर में 'श्रीः' (या श्रीयते सर्वैरिति श्रीः) अर्थात् सम्पदा वा दैवी सम्पदाओं के रूप में, पापात्माओं में अर्थात् पतित आत्माओं में (पान्ति अस्मात् आत्मानं इति पापम् पापमात्मनि मनसि येषां ते पापात्मानः) 'अलक्ष्मी' (लक्षयति पश्यति नीतिज्ञमिति लक्ष्मीः अस्याः अभावः अलक्ष्मीः) अर्थात् सम्पत्ति वा दैवी सम्पदा-हीनत्व के रूप में और कृत-धियों अर्थात् किये हुए कर्मों के मनन करनेवाले अर्थात साधुओं में अध्यवसाय के रूप में है।

संसद्-हृदय वालों में श्रद्धा अर्थात् आगमोक्त वचनों में श्रद्धा वा विश्वास (श्रद्धा सम्प्रत्ययः स्पृहेत्यमर-कोषः) के रूप में, कुल-जनों अर्थात् कुल-पथिकों वा कुल-मार्गावलम्बियों में लज्जा अर्थात् विवेक (लज्जा अकरणीया प्रवृत्ति-लक्षणाऽन्तःकरण-गुणोपाया) के रूप में रहती है।

कुलीनों से तात्पर्य है कुण्डली-योग-साधकों से, कारण वे कुल-पथ कुण्डली वा शक्ति-पथ के पथिक हैं, जिसके द्वारा कुण्डली ऊपर उठकर सह-स्रार-स्थित पर-शिव से मिलती है—

मनोऽपि भ्रू-मध्ये सकलमपि भित्वा कुल-पथं।
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि ॥
—(आनन्दलहरी)

विवेक को परिभाषा अप्पय दीक्षित कृत 'सिद्धान्त-लेश' में यह है—"ब्रह्मणश्चोपादनत्व-द्वितीय-कूटस्थ-चैतन्य-रूपस्य न परमाणूनामिवा-रम्भक-स्वरूपं न वा प्रकृतेरिव परिणामित्व-रूप किन्तु अविद्यया वियदादि-प्रपञ्च-रूपेण विवर्त-मानत्व लक्षणम्। वस्तुनस्तत् सम-सत्ता कोऽन्यथा भावः परिणामः तदसम-सत्ता को विवर्तं इति वा कारण-लक्षणोऽन्यथा भावः परिणाम तद् विलक्षणो विवर्तं इति वा कारणाभिन्नं कार्य्यं परिणामः तद-भेदं विनैव तद् व्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्तं इति वा विवर्त-परिणामयोर्विवेकः" अर्थात् ब्रह्म का कोई दूसरा कारण नहीं है। वह अपना कारण आप ही है। अद्वितीय कूटस्थ चैतन्य-रूप ब्रह्म को परमाणुओं के सदृश आरम्भक-स्वरूपत्व नहीं है तथा प्रकृति के सदृश परिणामित्व-रूप भी नहीं है। परन्तु अज्ञान से आकाशादि प्रपञ्च-रूप द्वारा विवर्तमानत्व लक्षण है। वही पदार्थों का सम-सत्ता वाला अन्यथा भाव-रूप परिणाम है। वही असम-सत्ता (विषम सत्ता) वाला विवत है। अथवा कारण-लक्षण वाला अन्यथा भाव-परिणाम है। उससे लक्षण-रहित (विगतं लक्षणं यस्य सः) विवर्त है। अथवा कारण से अभिन्न कार्य्य-रूपो परिणाम है। कारण से अभेद-ज्ञान विना ही कारण-व्यतिरेक से कठिनता से व्यक्त होनेवाला कार्य्य विवर्त है। यही विवर्त और परि-णाम का विवेक अर्थात् विचार है।

ऐसी सर्व-स्वरूपा शक्ति को नमस्कार करते हैं अर्थात् तादात्म्य-सम्बन्ध की स्थापना करते हैं अर्थात् उस शक्ति में मिल कर एक हो जाते हैं—

नमसो नमने शक्तिर्नमनं ध्यानमेव च।
चतुर्थ्याः तादात्म्य-सम्बन्धः कथ्यते प्रत्यगात्मनोः'
—पद्मपादाचार्य्य

ऐसी भगवती विश्व की शृंखलता की रक्षा करे।

किं वर्णयाम तव रूपमचिन्त्यमेतत्
किं चाति-वीर्य्यमसुर-क्षय-कारि भूरि।
किं चाहवेषु चरितानि तवाद्भुतानि
सर्वेषु देव्यसुर-देव-गणादिकेषु ॥ ६ ॥

टीका—हे देवि! तुम्हारे इस अचिन्तनीय रूप और असुर-नाशक अति पराक्रम तथा देवासुर-युद्धों में तुम्हारे अद्भुत चरितों का वर्णन हम क्या करें!

व्याख्या—हे देवि! मन में न समानेवाले अर्थात् मन से अप्राप्य वा अग्राह्य तेरे अचिन्त्य अनिरूपणीय सर्वोत्कृष्ट रूप को अर्थात् तेरे विराट् रूप (महतो महीयान्) और साथ ही सूक्ष्म (अणोर-णीयान्) रूप को किन शब्दों में वर्णन करें, कारण तुम्हारे यहाँ वचन की पहुँच ही नहीं है (यतो वाचो निवर्त्तन्ते)। फिर अति अनन्त असाधारण प्रचुर आसुरी सम्पदाओं को दमन करनेवाले तेरे सामर्थ्य का वर्णन क्या करें, कारण तुम्हारी शक्ति (सामर्थ्य)

अपरिमित है।

सीमा-रहिता वा अनन्ता की शक्ति भी अतुलनीय वा अनन्त होना स्वाभाविक है अथवा अनन्त वा असीम शक्ति रहने से ही अमिता कहलायी जा सकती है।

फिर दैवी और आसुरी सर्गों में अर्थात् आत्माकार और अनात्माकार-वृत्तियों के संघर्षों में तुम्हारे अद्भुत (अदित्याश्चर्यार्थकमव्ययं तस्य भवनं अद्भुतम्) आश्चर्य्य-कारक चरितों वा लीलाओं का वर्णन क्या करें अर्थात् वर्णन हो ही नहीं सकता। इसी हेतु कहा है—

आश्चर्य्य-वत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्य्य-वद् वदति तथैव चान्यः। आश्चर्य्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

— गीता २९।

इससे देवी की अनिर्वचनीयता बोध होती है।

हेतुः समस्त-जगतां त्रिगुणापि दोषै—
र्न ज्ञायसे हरि-हरादिभिरप्यपारा।
सर्वाश्रयाखिलमिदं जगदंश-भूत-
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या॥ ७॥

टीका—तुम सारे जगत् की कारण हो। त्रिगुणा होते हुए भी दोषों के द्वारा विष्णु, शिवादि तुम्हें नहीं जान पाते। तुम अपार हो और सबकी आश्रय हो। यह जगत् तुम्हारा अंश-रूप है क्योंकि तुम सबकी आदि परमा प्रकृति हो।

व्याख्या—तुम सम्पूर्ण जगत् की मूल-हेतु (हिनोति व्याप्नोति कार्यम् इति हेतुः) वा मूल-कारण हो अर्थात् समस्त कार्य्यों का आदि कारण तुम्हीं हो। तुम त्रिगुणा वा सत्व, रज और तमोगुणोंवाली भी हो अर्थात् चित् होते हुये भी अचित् वा अविद्या पाद तुम्हारा ही है।

उक्त त्रैगुण्य दोषों से, जो वास्तविक दोष नहीं हैं, कारण यह आदि समस्त कारणत्व तुझमें अपरिछिन्न-भाव से ही है। तुम्हारा ज्ञान प्रपञ्चान्तर्गत त्रिगुणान्वित विष्णु, शिव आदि को नहीं होता है। तुम ऐसी ही अपारा हो। अर्थात् विना निस्त्रैगुण्य हुये तुम्हारा ज्ञान नहीं हो सकता है। इसी हेतु भगवान् कृष्ण अपने सखा भक्त अर्जुन को उपदेश देते हैं—

'त्रैगुण्य-विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !'

—गीता २।४५।

तुम अपने अंश-स्वरूप समस्त प्रपञ्च की आश्रया वा आधार-भूता हो अर्थात् नित्य और अनित्य दोनों पदार्थों की एक-मात्र आधार-शक्ति हो—

'यच्च किञ्चित् क्वचिद् वस्त सदसद्वाखिलात्मिके। तस्य सर्वस्य या शक्तिः······'

अखिलाधार का तात्पर्य्य श्रुति के इस वचन से स्पष्ट होता है—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।'

इसमें उपाधि का प्रश्न नहीं आता है, कारण ब्रह्म के सिवा कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं—

ब्रह्म-भेदो न कथितो ब्रह्म-व्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति' —त्रिपाद-विभूति-महानारायणोपनिषत्।

प्रपञ्च को ब्रह्म की उपाधि मानने से पदार्थ में अर्थात् आत्मा और परमात्मा में भेद-वत् सर्वत्र भेद हो जायगा। उपाधि की परिभाषा ही ऐसी है—

'अन्यथा स्थितस्य वस्तनोऽन्यथा प्रकाशनम्।'

—वाचस्पति।

यह वैशेषिक वा असत् कार्य्य-वादी सिद्धान्त का खण्डन करता है।

गीता भी यही कहती है—

सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।
अहिंसा समता तुष्टिस्तपोदानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भाव-भूतानां मत्त एव पृथग् विधाः'
—१०।५।

श्रुति भी कहती है—

'विद्याहमविद्याहम्' इत्यादि—अथर्वशीर्ष देव्युपनिषत् ।

यह जगत् वा प्रपञ्च कारण-गुण प्रक्रम-न्याय है । इसकी वाचस्पत्य व्याख्या ऐसी है—

'कारण-गुणाः सजातीय-गुणान् कार्यं आरभन्ते यथा तन्तु-रूपादयः स्व-कार्ये पटे सजातीय रूपादीनारभन्ते न विजातीयानेवं यत्र कारण-गुणानुगमस्तत्रास्य प्रवृत्तिः ।'

अर्थात् कारण-गुण सजातीय अर्थात् अपने ही समान धर्मवाले कार्य करते हैं । यथा तन्तुओं से पट-रूपी अपने धर्म वा गुण-वाले कार्य्य ही सम्पादित होते हैं और किसी अन्य प्रकार वा अन्य गुण-वाले नहीं, इसी प्रकार कारण के गुणों के अनुसार ही कार्य्य की प्रवृत्ति है । इस 'कारण'-पद से समवापि कारण मात्र से तात्पर्य्य है, अन्य कारणों से नहीं ।

तुम अव्याकृता अर्थात् षड्विध भाव-विकार-हीना हो । ये छहो भाव विकारों के नाम हैं । 'जायते' अर्थात् होता है, 'अस्ति' अर्थात् है, 'विपरिणमते' अर्थात् रूपान्तर होता है, 'वर्धते' अर्थात् वढ़ता है, 'अपक्षीयते' अर्थात् घटता है और 'विनश्यति' अर्थात् विशिष्ट प्रकार से नष्ट होता है । इसका स्पष्टीकरण वेदान्त-सूत्र 'भूवादयः' के मनन से होता है । तुम आदि परमा हो—

'परः परमात्मा मीयते जीव-भावेन विच्छिद्यते अनयेति परमा ।'

अर्थात् परात्मा जीवात्मा द्वारा पृथक् समझा जाता है । मूलाऽविद्या प्रकृति अर्थात् त्रिगुणोपेत कार्य्य-स्वरूपा भी तुम हो ।

इससे देवी के मूलाविद्या प्रकृति-रूप का बोध होता है ।

यस्याः समस्त-सुरता समुदीरणेन
तृप्तिं प्रयाति सकलेषु मखेषु देवि !
स्वाहासि वै पितृ-गणस्य च तृप्ति-हेतु—
रुच्चार्यसे त्वमतएव जनैः स्वधा च ॥ ८ ॥

टीका—हे देवि ! सम्पूर्ण यज्ञों में जिसके उच्चारण से सब देवता तृप्त होते हैं, वह स्वाहा तुम हो और पितरों की तृप्ति का कारण भी तुम हो । अतएव लोग तुम्हें स्वधा कहते हैं ।

व्याख्या—हे देवि ! तुम सब प्रकार के देव और पितृ-यज्ञों में देवताओं और पितरों की पालने-वाली 'स्वाहा' और 'स्वधा' रूपिणी वाक्-शक्ति (वाक् काम-धेनु) हो । ऐसा श्रुति भी कहती है—

'वाचं धेनुमुपासीत । तस्याश्चत्वारः स्तनः, स्वाहा-कारो वषट्-कारो हन्त-कारः स्वधा-कारः । तस्य द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहा-कारञ्च वषट्-कारञ्च । हन्त कारं मनुष्याः स्वधा-कारं पितरः'—वृहदारण्यक, अष्टम ब्राह्मण ।

इन सवका सम्यक् उच्चारण करने से ही कल्पोक्त फल होता है । अशुद्ध वा अयुक्त उच्चारण से 'इन्द्र-शत्रो वर्द्धस्व' वत् अनिष्टापत्ति की ही सम्भावना रहती है ।

पितृ यज्ञ भी मूर्त्तामूर्त्त भेद से दो प्रकार के हैं । इन दोनों में 'स्वाहा' और 'स्वधा' दोनों का प्रयोग है । नान्दी-मुख-पितरों के श्राद्ध में 'स्वाहा' का ही प्रयोग है—

'स्वाहा देव-हविर्दाने वौषट् वषट स्वधा इति अभिधानात् पितृणामपि ।'

इससे देवी का देव और पितृ-गणों की पालिका मन्त्र-शक्ति होना बोध है।

> या मुक्ति-हेतुरविचिन्त्य-महा-व्रता त्व-
> मभ्यस्यते सुनियतेन्द्रिय-तत्व-सारैः ।
> मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्त-समस्त-दोषै--
> र्विद्यासि सा भगवती परमा हि देवि ॥ ९ ॥

टीका—हे देवि ! जो मोक्ष का कारण है, अचिन्तनीय महा-व्रत-स्वरूपा है, सभी दोषों से रहित, जितेन्द्रिय, तत्व को ही सार माननेवाले मोक्षार्थी मुनि जिसका अभ्यास करते हैं, वह भगवती परा विद्या तुम्हीं हो।

व्याख्या--हे देवि ! तुम निश्चय ही ज्ञान-वैराग्य की प्रतिपादिका सर्वोत्कृष्टा ब्रह्म-विद्या (वेदनं विद्या। विद् ज्ञाने) हो और अविचिन्त्य महा-व्रता भी हो अर्थात् मन के द्वारा न ज्ञात होने-वाले जो भगवान् पतञ्जलि के कहे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-रूपी दुश्चर अर्थात् बड़ी कठिनता से किये जानेवाले महाव्रत हैं, जिससे वे जाति-देश-कालावच्छिन्न रूप से हों, ऐसी तुम हो। योग-सूत्र में कहा है—

'जाति-देश-काल-समयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महा-व्रतम् ।'

पुनः तुम मुक्ति का एकमात्र कारण होने से मुक्ति के इच्छुक मुनियों वा मनन करनेवालों, जिनके समस्त दोष-समूह अस्त वा नष्ट हो गये हैं अर्थात् साधन-चतुष्टय से सम्पन्न अधिकारी अर्थात् नित्य-नैमित्तिक प्रायश्चित्त उपासना कर निष्पाप वा निर्मल अन्तःकरण-वालों की, जिन्होंने इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है और तत्व का सार समझ लिया है, अनवरत रूप में आराध्या हो। अभ्यास से तात्पर्य है मनन की असकृत् वा अनेक बार आवृत्ति।

इससे देवी की उपनिषत्-रूपता का बोध होता है।

> शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधान-
> मुद्गीथ-रम्य-पद-पाठ-वतां च साम्नाम् ।
> देवी त्रयी भगवती भव-भावनाय
> वार्त्ता च सर्व-जगतां परमार्त्ति-हन्त्री ॥ १० ॥

टीका--तुम शब्द-स्वरूपा हो, अति निर्मल ऋग्वेद, यजुर्वेद और उद्गीथ के सुन्दर पदों के पाठ से युक्त सामवेद की आधार हो। तुम देवी, त्रयी, भगवती हो। विश्व की उत्पत्ति के लिए वार्ता हो और सारे संसार के परम दुःख को दूर करनेवाली हो।

व्याख्या—तुम शब्दात्मिका हो अर्थात् पद-वाक्य-प्रमाण-रूपा वाणी ही तुम्हारा स्वरूप है अर्थात् शब्द-ब्रह्म वा वचनीय ब्रह्म हो। पुनः तुम ऋग्वेद के अनुसार स्तुति करनेवालों (ऋच्यन्ते स्तूयन्ते वा आभिरिति ऋचः। ऋच् स्तुतौ) और यजुर्वेद के अनुसार पूजा करनेवालों (इज्यते एभि-रिति यजूंषि) की, जिनके सुष्ठु भाव से आणविक मल वा जीवोपाधि-भाव नष्ट हो गये हैं, ऐसे निर्मल भाव-वालों की निधान वा आधार हो। साथ ही साम (स्यन्ति मायामिति सामानि अर्थात् माया दूर करनेवाला) गान करनेवालों के प्रणव वा ओंकार से रमण-योग्य वने ('ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा। श्रवत्यनों कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीयते'-

मनु) पदों के पाठ करनेवालों की भी तम एकमात्र वाक्-शक्ति-रूप आश्रय हो।

तुम भव के, जो महादेव और संसार अर्थात् चिद्-ब्रह्म और अचिद-ब्रह्म का द्योतक है, भावन वा ध्यान वा मनन की हेतु-भूता देवी हो अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों उपदेश से कार्य्य करवाने-वाली हो—

दीव्यतीति व्यवहारयतीति वा देवयति सर्वान् प्रवृत्ति-निवृत्त्युपदेशेन व्यवहारयति इति देवी।

तुम त्रयी वा त्रि-रूपा ऋक्, यजुः और साम-रूपा वा दर्शनोक्ता ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेय त्रि-रूपा हो। कारण वचनीय ब्रह्म, की जो समास-रूप में वा हैमवती-रूप में तीनों वेदों में प्रतिपादित है, तुरीया वा अनिर्वचनीया अवस्था का शब्द द्वारा प्रतिपादन नहीं हो सकता है।

"त्रयी" से तान्त्रिक तात्पर्य्य सवितृ-पद आद्य-शक्ति त्रिपुरा वा त्रिपुरसुन्दरी तृतीया महा-विद्या से है।

ऐसी भगवती वा पूर्ण ऐश्वर्य्य-शालिनी तुम हो। पुनः तुम सब जीवों की वार्त्ता (वर्तने वा तिङ्-गणे कृष्याद्युदन्तयोरित्यभिधानात् यद्वावृत्तेश्चेति वार्त्तिकेन णः) अर्थात् प्रवृत्ति (वार्त्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः—अमर-कोष) हो अर्थात् तुम्हीं अच्छे और बुरे समस्त कर्म की करानेवाली हो। गीता भी कहती है—

'ईश्वरः सर्व-भूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्व-भूतानि यन्त्रारूढानि मायया।'

इसके सिवा निवृत्ति वा अन्तर्मुखी वृत्ति के रूप से परम अर्थात् सबसे बड़ी आर्त्ति (आ अरणम् आर्त्तिः) अर्थात् पीड़ा (जन्म-मरण-पीड़ा) की नाश करनेवाली हो अर्थात् मुक्ति-दात्री भी हो। इस प्रकार तुम प्रवृत्ति वा व्यवसायात्मिका बुद्धि वा बन्धन-कर्तृका और निर्वृत्ति वा अव्यवसायात्मिका बुद्धि वा मोक्ष-दात्री दोनों हो।

इससे देवी के समस्त धर्म की मूल-वेदान्त-रूपता का बोध होता है।

मेधासि देवि विदिताखिल-शास्त्र-सारा
दुर्गासि दुर्ग-भव-सागर-नौर-सङ्गा।
श्रीः कैटभारि-हृदयैक-कृताधिवासा
गौरी त्वमेव शशि-मौलि-कृत-प्रतिष्ठा ॥ ११ ॥

टीका—हे देवि ! समस्त शास्त्रों के सार को जाननेवाली मेधा तुम हो। कठिन संसार-सागर के लिए नौका-रूप दुर्गा हो। आसक्ति से रहित हो। कैटभ-शत्रु विष्णु के हृदय में रहनेवाली लक्ष्मी और चन्द्र-शेखर शिव द्वारा प्रतिष्ठित गौरी तुम्हीं हो।

व्याख्या—हे देवि ! सब शास्त्रों का सार अर्थात् महावाक्य 'ॐ तत् सत्, तत्त्वमसि' आदि की मेधा वा धारणवती बुद्धि, वा महा-विद्या तुम्हीं हो। तम दुर्गा (दुःखेन वा अति-परिश्रमेण गम्या वा ज्ञातुं योग्या; गम् गमने ज्ञाने) हो अर्थात् दुर्गा वा दुस्तर (सुदुरोरधिकरण इति गमे दुः) सागर-रूपी संसार की पार-कारिणी नौका वा अवलम्ब हो।

अथवा भव वा शम्भु वा पर-ब्रह्म के तत्व-रूपी सागर को नौका अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान-साधन-भूता महा-विद्या हो। तुम विष्णु (व्यापनात् विष्णुः) वा सर्व-व्यापक ब्रह्म में (दहराकाश-वत्) श्री वा लक्ष्मी (लक्षयति पश्यति नीतिज्ञमिति लक्ष्मीः) वा विद्या वा प्रकाश-शक्ति के एकमात्र रूप में रहती हो।

पुनः शशि-मौलि वा शिव वा ब्रह्म में गौरी (गुरी उद्यमने। गुरु ते उद्युंक्ते मनोऽस्मिन्निति गौरः) अर्थात् मनोरमणीयता-रूप में अर्थात् रमण-शक्ति

के रूप में रहती हो।

'रमन्ते योगिनो यस्मिन् चासौ रामः' अर्थात् योगी जिसमें रमण करते हैं, ऐसा जो राम वा ब्रह्म है; या 'सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि हवा अस्मिन् भूतादि विशन्ति' इत्यादि वृहदारण्यक ब्राह्मण) से भी सबमें रमण करनेवाले ब्रह्म को रमण-शक्ति गौरी का बोध होता है।

चन्द्र अमृतत्व का द्योतक है, जो ब्रह्म का ही एक लक्षण है—

अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं ब्रह्म"— श्रुति।

यह सोम-मण्डल, जहां से सोम वा अमृत की धारा गिरती है, जिस प्रकार व्यष्टि में सहस्रार में स्थित है, उसी प्रकार समष्टि वा ब्रह्म में ऊर्ध्व-स्थित है। इसी हेतु शिव आदि के शीर्ष-प्रदेश में ही चन्द्र की स्थिति की कल्पना की गई है।

ईषत्-सहासममलं परिपूर्ण-चन्द्र—
विम्वानुकारि-कनकोत्तम-कान्ति-कान्तम्।
अत्यद्भुतं प्रहृतमात्त-रुषा तथापि
वक्त्रं विलोक्य सहसा महिषासुरेण ॥१२॥

टीका—मन्द मुसकान-सहित, निर्मल, पूर्ण-चन्द्र-विम्व के समान, उत्तम स्वर्ण की कान्ति जैसे सुन्दर (तुम्हारे) विलक्षण मुख को देखकर (भो) क्रुद्ध महिषासुर ने अचानक प्रहार किया।

व्याख्या—मुसकराते हुये तुम्हारे अद्भुत वा अपूर्व अर्थात् जो पूर्व नहीं देखा गया है और निर्मल पूर्ण-चन्द्र के समान अर्थात् पूर्ण सौम्य मुख-मण्डल को, जिसकी कान्ति उत्तम वा उत्कृष्ट कनक (कनतीति कनकं कनी दीप्तौ) के समान है अर्थात् जो दिव्य सौम्य तेजोद्दीप्त है, देखकर सहसा वा अतर्कित-वल से क्रोध से उन्मत्त महिषासुर वा मोह का क्षणिक-कालिक लोप हो गया।

कनक वा सुवर्ण-वर्ण ब्रह्म का है। ऐसा छान्दोग्योपनिषत् कहता है—"अथ य एयोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्य-श्मश्रु-हिरण्यकेश आप्रणस्वात् सर्व एव सुवर्णः।"—१।४।८

निर्मल (अमल) का अर्थात् पूर्ण ब्रह्म का अज्ञान वा मोह-रूपी महिषासुर पर मुसकराना "आनन्दं ब्रह्म" स्वाभाविक है। पूर्ण-चन्द्र के शीतलत्व की उपमा ब्रह्म के सौम्य-रूप से भी स्वाभाविक है। त्रिताप वा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के कष्टों की ज्वालाओं की उष्णता का शमन करने से ही आत्मा शीतल वा प्रशान्त होता है। इसका एकमात्र समवायि कारण विद्या वा ब्रह्म-विद्या है। अतएव शीतलत्व उसका गुण वा सजातीय कार्य्य है। इससे देवी के सौम्य-रूप का बोध होता है।

दृष्ट्वा तु देवि! कुपितं भ्रुकुटी-कराल—
मुद्यच्छशाङ्क-सदृशच्छवि यन्न सद्यः।
प्राणान् मुमोच महिषस्तदतीव-चित्रं
कैर्जीव्यते हि कुपितान्तक-दर्शनेन ॥१३॥

टीका—हे देवि! उदीयमान चन्द्र-वत् शोभावाली ढेढ़ी भौंहों से भयानक क्रोध-युक्त (मुख) को देखकर महिषासुर ने तत्काल ही प्राण नहीं छोड़ दिये, यह अत्यन्त विचित्र (वात) है क्योंकि क्रोधित काल को देखकर कौन जीवित रहता है!

व्याख्या—हे देवि! तुम्हारा क्रोध (यह क्रोध वाह्य वा बनावटी है, कारण देवी के क्रोध का हिंसा से नहीं वरन् कृपा से सम्बन्ध है। इसका स्पष्टीकरण आगे चलकर देव-गण ने "चित्ते कृपा

समर-निष्ठुरता च दृष्टा" के पद में किया है) युक्त कराल वा भीषण, जो ब्रह्म का एक विशिष्ट गुण है, 'छवि' (छिनत्ति असारं इति छविः) अर्थात् असार को हटानेवाली अर्थात् आत्मा के मोह वा अज्ञान का नाश करनेवाली छवि को, जिसकी उपमा उदय-कालीन चन्द्रमा की लालिमा, क्रोध से मुख पर की लाल आभा से है और भ्रुकुटी की वक्रता वा टेढ़ेपन की भी उपमा उदीयमान बाल-चन्द्र से है, देखकर महिषासुर ने तत्काल ही प्राणों (यहाँ प्राणों से श्रुति-कथित "दशेमे पुरुषे प्राणाः"—बृहदारण्यक ३।९।४। से तात्पर्य्य है। श्रुति में "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति"—नारायणोपनिषत्। अस्तु, प्राण एक नहीं, बहुत हैं, ऐसा सर्व-सम्मत सिद्धान्त है) को नहीं छोड़ा अर्थात् आत्म-भावापन्न नहीं हुआ (कारण दशों प्राणों में लय होने के पश्चात् केवल आत्मा ही रहती है), यही महान् चित्र (चित्रयति इति चित्रम्) अर्थात् अद्भुत है, क्योंकि तुम्हारी कुपित, अन्त करनेवाली, दृष्टि मात्र से ही सभी का नाश वा जीव-भाव का नाश हो जाता है। यह विशेषता उसी करुणामयी के दर्शन में ही है, चाहे वह कुपित हो, उग्र हो या सौम्य हो।

इसी तथ्य को श्रुति इन वाक्यों में वर्णन करती है—

"भिद्यन्ते हृदय-ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व-संशयः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।'

करुणा-मयी का क्रोध भी कल्याण-दायक या मुक्ति-दायक ही है। केवल दृष्टि से ही महिषासुर का उद्धार नहीं किया, इसके कारण का भी स्पष्टी-करण देव-गण ने आगे चलकर 'दृष्टैव किं न भवतो प्रकरोति भस्म' इत्यादि वाक्यों में किया है।

इससे देवी के बाह्य उग्र-रूप के अन्तर्लक्ष्य सौम्य रूप का ही बोध होता है।

देवि ! प्रसीद परमा भवती भवाय,
सद्यो विनाशयसि कोपवती कुलानि।
विज्ञातमेतदधुनैव यदस्तमेत--
न्नीतं बलं सुविपुलं महिषासुरस्य ॥१४॥

टीका--हे देवि ! संसार के लिये आप प्रसन्न हों। क्रोधित होकर (आप) तत्काल कुलों का नाश करती हो, यह अभी ज्ञात हुआ है क्योंकि महिषासुर की यह विशाल सेना नष्ट हो गई है।

व्याख्या—हे देवि अर्थात् अन्तराल से खेलने-वाली (दिव् क्रीडायां + अच् + ङीप्) वा लीला-मयि ! परमा भवती अर्थात् उत्कृष्ट-कान्ति-समूह वती (विजिगीषा शीले आभानां समूहो आभं। तस्य समूह इति अण्। आभं द्युति-समूहोऽस्ति अस्या इत्या भवती) कल्याण के निमित्त (भवं कल्याणं। भवो जन्मनि कल्याणे इत्यभिधानात्) अथवा भव अर्थात् संसार के निमित्त प्रसन्न होओ क्योंकि हमको आशङ्का होती है कि तुम्हारा क्रोध संसार का भी नाश कर देगा, कारण तुम क्रुद्ध होकर 'कुलानि' अर्थात् जन-पदों (कुलं जन-पदे गोत्रे सजातीय-गणेऽपि चेति कोशान्तरम्) का तुरन्त ही नाश करती हो। इसका ज्ञान महिषासुर के बहुतर बल अर्थात् बहुत से सहकारी गुणों का अभी नाश करने से होता है।

इससे एक दूसरे तात्पर्य्य का भी बोध होता है कि जिस प्रकार महिष की आसुरी सम्पदाओं का नाशकर उसको सगोत्र वा सपरिवार मुक्त किया है, उसी प्रकार तुम सारे विश्व के जीवों का भी जीव-भाव नष्ट कर दोगी। इस हेतु प्रपञ्च का लय हो जायगा। इससे देव-गण की स्वार्थ-परता का बोध होता है। कारण प्रपञ्च का लय होने से स्वर्ग का

भी, जिसके सुख के भोक्ता देव-गण स्वयं हैं, लय हो जाता। यह व्यवसायात्मिका बुद्धि देव-गण में भी है।

> ते सम्मता जन-पदेषु धनानि तेषां
> तेषां यशांसि न च सीदति धर्म-वर्गः *।
> धन्यास्त एव निभृतात्मज-भृत्य-दारा
> येषां सदाभ्युदयदा भवती प्रसन्ना ॥ १५ ॥

टीका—सदा अभ्युदय देनेवाली आप जिन पर प्रसन्न होती हैं, वे देश में सम्मानित होते हैं, उन्हें सम्पत्ति और प्रतिष्ठा मिलती है। उनके धर्म-भावों का क्षय नहीं होता और अपने सन्तान, सेवक तथा पत्नी से वे धन्य होते हैं।

व्याख्या—वे ही मानव समाज में सम्मत वा लब्ध-प्रतिष्ठ हैं; उनकी ही सम्पत्तियाँ ऐहिक वा सांसारिक और पारलौकिक वा दैवी सम्पदायें हैं, उनका ही यश अर्थात् सुकृतों का यश है और उनके धर्म-वर्ग ही अर्थात् पुरुषार्थ-चतुष्टय अर्थ धर्म, काम और मोक्ष-भाव क्षय नहीं होते हैं; उनकी ही सन्तान, उनके ही नौकर और स्त्री उनके प्रति नम्र भाव रखते हैं अर्थात् उनका ऐसा विमल आचरण रहता है कि उनके अनुगत-गण उन पर श्रद्धा रखते हैं और वे ही धन्य अर्थात् पुण्यवान् (सुकृती पुण्यवान् धन्य इत्यमरः) हैं, जिन पर तुम, जो सब प्रकार की उन्नति देनेवाली हो, सर्वदा (सर्व-कालावच्छिन्न-रूप से) प्रसन्ना अर्थात् सुन्दर रूप से अन्तः-स्थिता हो (प्रकर्षेण सन्ना सद् गमने + क्त + टाप् सन्ना वा गता वा अवस्थिता)।

इससे यह बोध होता है कि उसके सर्वतोभाव से वा अनन्य शरणागतों को ही ऐहिक और पारमार्थिक सुख प्राप्त हैं।

> धर्म्याणि देवि ! सकलानि सदैव कर्म्मा-
> ण्यत्यादृतः प्रतिदिनं सुकृती करोति।
> स्वर्गं प्रयाति च ततो भवती प्रसादा-
> ल्लोक-त्रयेऽपि फलदा ननु देवि तेन ॥१६॥

टीका—हे देवि ! पुण्यवान् सदा ही प्रतिदिन सभी धर्म-कर्म श्रद्धापूर्वक करता है और तब आपकी कृपा से स्वर्ग को जाता है। अतः तीनों लोकों में हे देवि ! निश्चय ही आप फल-दायिनी हैं।

व्याख्या—हे देवि ! पुण्यवान् नित्य सर्व-कालिक अति आदर से अर्थात् अति निष्ठा से अङ्ग-सहित सब कर्त्तव्य कर्मों को करते हैं। सब कर्त्तव्य कर्मों से तात्पर्य है अपनी-अपनी शाखा के अनुसार श्रौत (वैदिक) और स्मार्त तथा अपने-अपने गुरु क्रम के अनुसार आगमोक्त साधनादि कर्मों से। तब भी तुम्हारी कृपा से (अपने कर्मों के फल-स्वरूप नहीं, वरन् भक्ति-मात्र से) स्वर्ग जाते हैं, (कारण) तुम्हीं भूः, भुवः और स्वः तीनों लोकों में किये कर्मों के फल देनेवाली हो।

इससे यह समझना अयुक्त है कि शेष चारों

---

* दाक्षिणात्य पाठ है—'बन्धु-वर्गः'। तात्पर्य्य एक ही है, कारण आत्मा का बन्धु धर्मादि पुरुषार्थ चतुष्टय भाव ही है। अथवा बन्धु से तात्पर्य्य है आत्मा से, क्योंकि स्वयं भगवान् कृष्ण के वचन 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः' के अनुसार आत्मा ही आत्मा का अर्थात् आत्मा स्वयं अपना बन्धु वा शत्रु है। अतएव 'बन्धु-वर्गो न सीदति' का तात्पर्य्य यह है कि (उसकी) आत्मा की अवनति अर्थात् अनात्माकार वृत्ति नहीं आती है। इस प्रकार दाक्षिणात्य पाठ भी युक्त ही है।

महः, जनः, तपः और सत्य-लोकों में कर्मों का फल देनेवाली कोई दूसरी है। तीन ही लोकों का उल्लेख इस हेतु है क्योंकि इन्हीं तीनों लोकों में यज्ञादि सुकर्म वा ब्रह्म-हत्या तक के कुकर्म किये जाते हैं।

दूसरे शब्दों में 'त्रय' को 'त्रिपुटी' भी कहते हैं। कर्मों का अन्त त्रिपुटी अर्थात् ज्ञातृ, ज्ञान और ज्ञेय के भाव तक ही है। इसके परे तुरीय लोक वा अवस्था है। कर्त्तव्यता का अन्त हो जाता है अर्थात् निष्क्रियावस्था में आत्मा चली जाती है अर्थात् आत्मा ब्रह्म-भूत हो जाती है।

दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेष-जन्तोः,
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव-शुभां ददासि।
दारिद्रय-दुःख-भय-हारिणि का त्वदन्या,
सर्वोपकार-करणाय सदार्द्र-चित्ता ॥ १७ ॥

टीका—हे दुर्गे ! स्मरण किये जाने पर सब जीवों का भय दूर कर देती हो। स्वस्थों द्वारा स्मरण किये जाने पर अत्यन्त शुभ बुद्धि देती हो। दरिद्रता, दुःख और भय दूर करनेवाली हे देवि ! सदा सबके उपकार करने में दयालु हृदयवाली तुम्हारे सिवा अन्य कौन है !

व्याख्या—हे दुर्गे ! (सङ्कट में) सब जीवों के स्मरण करने पर तुम उनके भयों का नाश करती हो। तात्पर्य यह है कि जैसे शत्रु एक अविद्या ही है, वैसे ही भय भी एक ही है, जो अविद्या से होता है। इसी कारण एक-वचन का प्रयोग है।

'दुर्गा' शब्द की यामलोक्त व्याख्या इस प्रकार है—

दैत्य-नाशार्थ-वचनो दकारः परिकीर्त्तितः।
उकारो विघ्न-नाशस्य वाचको वेद-सम्मतः॥
रेफो रोगघ्न-वचनो गश्च पापघ्न-वाचकः।
भय-शत्रुघ्न-वचनश्चकारः परिकीर्त्तितः॥

अर्थात् दकार से दैत्यों का, उकार से विघ्नों का, रेफ से रोगों का, गकार से पापों का और आकार से शत्रु के भय का नाश करनेवाली है।

'स्वस्थ' अर्थात् जो अपनी ही आत्मा में स्थित हो, गीता के शब्दों में जिसे आत्म-रत वा आत्म-तृप्त कहते हैं, उनके स्मरण करने से तुम अतीव निष्कलुष या अव्यवसायात्मिका बुद्धि देती हो।

'दारिद्रय' अर्थात् इह और पर-सम्पत्ति-हीनता के दुःख को तुम्हारे सिवा और दूसरा कौन हटा सकता है ? (कारण) तुम सदा शत्रु, मित्र और उदासीन सभी जीवों—शत्रु से अनीश्वरवादी, मित्र से ईश्वरवादी होते हुये भी ईश्वर का मनन न करनेवाले से तात्पर्य है—के कल्याण के हेतु अनुकूल और प्रतिकूल सभी अवस्थाओं में सर्वदा स्निग्ध-चित्तवाली हो। यह विशेषता मातृ-रूप से उपासना की क्या कथा, ब्रह्म की मातृ-रूप से धारणा में ही है। केवल माता के हृदय में सुपुत्र और कुपुत्र की विषमता नहीं रहती है। 'कुपुत्रे सत्पुत्रे न हि भवति मातुर्विषमता'—देवी-महिम्न।

एभिर्हतैर्जगदुपैति सुखं तथैते,
कुर्वन्तु नाम नरकाय चिराय पापम्।
संग्राम-मृत्युमधिगम्य दिवं प्रयान्तु,
मत्वेति नूनमहितान् विनिहंसि देवि॥ १८ ॥

टीका—हे देवि ! इनके मारे जाने से संसार सुख प्राप्त करता है और भले ही बहुत समय से ये नरक के लिये पाप करते रहे हों, (इस समय) युद्ध में मृत्यु पाकर ये स्वर्ग जायँ, निश्चय ही ऐसा मानकर आप असुरों का हनन करती हैं।

व्याख्या—हे देवि ! तुम यह मानकर कि इनके मारे जाने अर्थात् आसुरी सम्पदाओं के नियन्त्रित

होने से संसार सुखी हो और ये आसुरी सम्पदावाली आत्माएँ नरक ले जानेवाले पाप या प्रतिकूल क्रियाएँ बहु काल तक कर संग्राम में मर कर स्वर्ग को जायँ, ऐसा समझकर ही अहितों अर्थात् प्रतिकूल सर्गवालों के आसुरी भावों का शमन करती हो।

इससे पूर्वोक्त पद में शत्रु पर भी देवी का दया-भाव होने का समर्थन होता है।

दृष्ट्वैव किं न भवती प्रकरोति भस्म,
सर्वासुरानरिषु यत् प्रहिणोषि शस्त्रम्।
लोकान् प्रयान्तु रिपवोऽपि हि शस्त्र-पूता,
इत्थं मतिर्भवति तेष्वपि तेऽति-साध्वी ॥१९॥

टीका—देखकर ही आप सभी असुरों को क्यों भस्म नहीं करतीं? शस्त्र का प्रहार क्यों करती हैं? इसलिये कि शस्त्रों से पवित्र हुये शत्रु भी (उत्तम) लोकों को जायें, इस प्रकार उन पर भी आपकी अत्यन्त उत्तम धारणा रहती है।

व्याख्या—आप केवल अपनी दृष्टि से सब असुरों को भस्म न करके शस्त्र का प्रयोग करती हो, कारण क्रोध वास्तविक क्रोध से ही भस्म किया जाता है। वैसे भस्मीकृत देहों की आत्मायें नरक जाती हैं। जैसे भगवान् कपिल के क्रोध से भस्म हुये सगर के पुत्रों को नरक जाना पड़ा। इसी हेतु हे साध्वी अर्थात् पर-कार्य साधिके! तुम्हारी यही इच्छा रहती है कि ये शत्रु अर्थात् अनीश्वरवादी वा अनात्माकार वृत्तिवाले भी शस्त्र के आघातों से 'पूत' अर्थात् पाप-रहित हो 'प्रकर्ष' अर्थात् सबसे उच्च पद को जायँ।

असुरों से भाव है 'सर्वेषामसवः प्राणा तान् रान्ति गृह्णन्ति इति सर्वासुरान्' अर्थात् सबके प्राण वा प्राण-भावों के ले लेने वा नष्ट कर देनेवाले या प्राण, जो ब्रह्म है, उसको अर्थात् ब्रह्म-भाव को ले लेनेवाली आसुरी सम्पदायें।

इससे भी देवी का शत्रुओं पर दया-भाव रखने का बोध होता है।

खड्ग-प्रभा-निकर-विस्फुरणैस्तथोग्रैः,
शूलाग्र-कान्ति-निवहेन दृशोऽसुराणाम्।
यन्नागता विलयमंशुमदिन्दु-खण्ड—
योग्याननं तव विलोकयतां तदेतत् ॥२०॥

टीका—हे देवि! खड्ग के तेज-पुञ्ज की उग्र ज्योतियों तथा शूल के अग्र-भाग की चमक से असुरों की दृष्टि नाश को प्राप्त नहीं हुई, तो इसलिये कि वे किरणों से युक्त चन्द्र-मण्डल के समान आपके मुख का दर्शन कर रहे थे।

व्याख्या-(तुम्हारे) खड्ग के सब दिशाओं में फैले भयानक किरण-समूह और शूल के अग्र-भाग की चमक से असुरों की दृष्टि नष्ट न हुई, इसका कारण यह था कि वे अमृत-किरण-सम्पर्की तुम्हारे मुख-मण्डल को देखते थे।

इससे भगवती की दृष्टि मात्र से असुरों के भस्म-सात् न होने का कारण बोध होता है।

दुर्वृत्त-वृत्त-शमनं तव देवि! शीलं,
रूपं तथैतदविचिन्त्यमतुल्यमन्यैः।
वीर्य्यं च हन्तृ-हृत-देव-पराक्रमाणां,
वैरिष्वपि प्रकटितैव दया त्वयेत्थम ॥ २१ ॥

टीका—हे देवि! आपका स्वभाव दुष्टों की दुष्टता को शान्त करनेवाला है, आपका यह रूप अचिन्तनीय तथा अन्यों से अतुलनीय है और आपकी वीरता देवताओं के पराक्रम के नष्ट करने-

वालों का भी विनाशक है। इस समय आपने शत्रुओं पर भी दया ही दिखाई है।

व्याख्या–हे देवि ! दुष्ट चरितवालों के वृत्त वा पाप-लक्षणों का शमन करना अर्थात् खण्डाकार वा अनात्माकार-वृत्ति को अखण्डाकार वा आत्माकार-वृत्ति में लाना तुम्हारा शील या स्वभाव है। (तुम्हारा) यह रूप मन के अगोचर अर्थात् समझ न सकने योग्य है और इसकी उपमा अद्वितीय होने से नहीं है। साथ ही तुम समस्त दैवी सम्पदाओं को पराभूत करनेवाली आसुरी सम्पदाओं की सामर्थ्य का दमन करनेवाली हो। इस प्रकार अनीश्वरवादियों पर भी दया-भाव दिखानेवाली हो।

यहाँ वैरी से तात्पर्य्य अरि-भक्त से है। ईश्वर का शत्रु भी एक प्रकार का भक्त ही है। भक्त का एक लक्षण मनन है। यह मनन डर, क्रोध अथवा किसी भी अन्य कारण से हो। मनन से ही भगवत्-प्राप्ति होती है। इस प्रकार के भक्त रावण, मारीच (इसे राम का इतना भय था कि राम सर्वदा इसके अन्तःकरण में रहते थे)) आदि अनेक हो गये हैं, जिनको परम पद प्राप्त हुआ है।

इससे देवी का अनीश्वर-वादियों पर भी दया दिखलाना स्वाभाविक गुण है, ऐसा सिद्ध होता है।

केनोपमा भवतु तेऽस्य पराक्रमस्य,
रूपं च शत्रु-भय-कार्यतिहारि कुत्र।
चित्ते कृपा समर-निष्ठुरता च दृष्टा,
त्वय्येव देवि! वरदे भुवन-त्रयेऽपि ॥ २२ ॥

टीका—हे वर-दायिनि देवि ! तुम्हारे इस पराक्रम की तुलना किससे हो ? शत्रुओं को भयकारी और अति मनोहर सौंदर्य कहाँ है ? हृदय में दया और युद्ध की कठोरता तीनों ही लोकों में तुममें ही दिखाई देती है।

व्याख्या–हे देवि ! तुम्हारे इस पराक्रम और अत्यन्त मनोहर तथा शत्रुओं के हेतु भयकारी रूप की कहाँ किससे उपमा दी जाय ? अर्थात् अद्वितीय होने से तुम्हारे सारे गुणसमूह भी अद्वितीय हैं। हे वरदे! मन में दया और समर में कठोरता। उपकार करने में कठोरता स्वाभाविक गुण है। इसको हम नित्य सांसारिक व्यवहार में देखते हैं। यथा विद्यार्थी के पढ़ाने में शिक्षक की, रोगी के आपरेशन उपवास आदि में डाक्टर की कठोरता उपकारार्थ ही है। तीनों लोकों में एक तुझमें ही देखी जाती है। यह भाव कि परस्पर-विरोधी इस गुण-द्वय का समावेश तुझमें ही है क्योंकि तुम्हारे निर्गुण और सगुण, सत् और असत्, विद्या और अविद्या इत्यादि सब कुछ होने से तुझमें परस्पर-विरोधत्व का समावेश अनिवार्य्य है। यह विरोध-भान वाधित है अर्थात् वास्तविक नहीं है। इसे जहदजहल्लक्षण अर्थात् भाग-त्याग-लक्षणा द्वारा पदार्थ-शोधन करने से समझ सकते हैं।

त्रैलोक्यमेतदखिलं रिपु-नाशनेन,
त्रातं त्वया समर-मूर्द्धनि-तेऽपि हत्वा।
नीता दिवं रिपु-गणा भयमप्यपास्त--
मस्माकमुन्मद-सुरारि-भवं नमस्ते ॥ २३ ॥

टीका--शत्रओं के संहार द्वारा तुमने इस समस्त त्रिलोक की रक्षा की है। उन (शत्रुओं) को भी युद्ध-भूमि में मारकर स्वर्ग को पहुँचाया है और उन्मत्त देव-शत्रुओं से उत्पन्न हमारे भय को भी दूर कर दिया है, तुम्हें नमस्कार है।

व्याख्या-समस्त भुवन-त्रय के अर्थात् भूर्लोक, जहाँ स्थूल वा पाञ्चभौतिक जीव रहते हैं, भुवर्लोक जहां प्रेतात्मा-गण सूक्ष्म शरीरवाले रहते हैं और स्वर्लोक

जहाँ देव-गण रहते हैं, आसुरी उपसर्गों का नाशकर रक्षा की है। भाव यह कि आत्मा के ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय त्रिपुटी इस भाव का नाश कर यथार्थ तत्व-ज्ञान देकर उसकी अविद्या से रक्षा की है। इससे त्रैलोक्य-रक्षणात्मक ब्रह्म-लिंग का बोध होता है। संग्राम के प्रधान स्थान ❁ में शत्रु-समूह को मारकर उसे स्वर्ग भेजा है। स्वर्ग-प्राप्ति का कारण 'मारना' है। 'उन्मद' अर्थात् अहंकार से उन्मत्त देव-शत्रुओं से उत्पन्न भय वा आसुरी उपसर्गों को दूर करनेवाली तुमको अभिवादन करते हैं।

इससे त्रैलोक्य-रक्षण वा पालिका शक्ति का बोध होता है।

शूलेन पाहि नो देवि ! पाहि खड्गेन चाम्बिके !
घण्टा-स्वनेन नः पाहि चाप-ज्या-निःस्वनेन च ।२४।

टीका—हे देवि ! शूल द्वारा हमारी रक्षा करो और हे अम्बिके ! खड्ग द्वारा रक्षा करो। घण्टा-नाद द्वारा और धनुष्टङ्कार द्वारा हमारी रक्षा करो।

व्याख्या—हे देवि ! हमारी शूल वा त्रिशूल से रक्षा करो (शूल वा त्रिशूल से तात्पर्य्य है त्रिशूल वा त्रिताप के नाश करनेवाले शस्त्र से)। हे माता ! ज्ञान रूपी खडग से रक्षा करो। (मातृ-शब्द के प्रयोग से अन्य सम्बोधनों को अपर्याप्त समझकर सर्वश्रेष्ठ मातृ-सम्बन्ध द्वारा परा-शक्ति का स्नेह-भाजन होने से और खड्ग से पाप-पुण्य-नाशक ज्ञान से तात्पर्य है।) घण्टा-शब्द और सज्जित धनुष की टंकार से हमारी रक्षा करो। घण्टा का लक्ष्यार्थ वाक्-शक्ति वा गायत्री है, जिसका नाद-ज्ञान अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान देकर रक्षा करने की प्रार्थना की गई है। इसी प्रकार धनुष की टंकार से विक्षेप का नाश होता है। विक्षेप भ्रम वा मोह को कहते हैं। अतएव धनुष-टंकार का भाव है विषय का सत्परामर्श-श्रवण।

❁ इसका दार्शनिक तात्पर्य्य यह है कि विद्या और अविद्या के संघर्ष का सबसे प्रधान स्थान मानस-चक्र वा भूताकाश है। मानस-चक्र का स्थान आज्ञा-चक्र से ऊपर है। अन्तिम युद्ध इसी में होता है। इसी स्थान पर आत्मा विजयी हो सहस्रार-स्थित ब्रह्मरन्ध्र वा चिदाकाश में परमात्मा में मिल जाता है अर्थात् शुद्ध विद्या-तत्व को जिसको शिव-तत्व कहते हैं, प्राप्त कर लेता है।

प्राच्यां रक्ष प्रतीच्यां च चण्डिके ! रक्ष दक्षिणे।
भ्रामणेनात्म-शूलस्य उत्तरस्यां तथेश्वरि ॥२५॥

टीका—हे चण्डिके ! पूर्व में, पश्चिम में और दक्षिण में रक्षा करो तथा हे ईश्वरि ! उत्तर में अपने शूल-भ्रमण द्वारा रक्षा करो।

व्याख्या—हे चण्डिके ! अर्थात् चण्ड-पराक्रम-शीले उग्र ब्रह्म-रूपे ! ईश्वरि अर्थात् षड्-विध-ऐश्वर्य-शालिनि ! पूर्व में पुण्य-मति की, पश्चिम में आत्मा-रमण क्रिया की, दक्षिण में क्रूर-मति से और उत्तर दिशा में काम से (आत्म-शूल अर्थात् आत्माकार-वृत्ति-रूपी शूल वा त्रिताप-हारक शस्त्र के सर्वतोमुख परिचालन से) रक्षा करो। दिशाओं के कई तात्पर्य हैं। सबका उल्लेख अप्रासंगिक है। आत्माकार वृत्ति का अर्थ है मोह का सम्यक् प्रकार से नाश करने-वाली आत्मा अर्थात् आत्म-ज्ञान की इच्छा।

सौम्यानि यानि रूपाणि त्रैलोक्ये विचरन्ति ते।
यानि चात्यन्त-घोराणि तै रक्षास्मांस्तथाभुवं ॥२६॥

टीका—त्रिलोक में तुम्हारे जो सुन्दर और जो अत्यन्त भयङ्कर रूप विचरते हैं, उनके द्वारा हमारी तथा भूलोक की रक्षा करो।

व्याख्या–तीनों लोकों में स्थित अपने सभी सौम्य और अत्यन्त उग्र-रूपों वा चिदचिदात्मक रूपों का ज्ञान देकर हमारी रक्षा करो। भाव यह कि तुम्हारे पूर्ण चिदचिदात्मक रूप के ज्ञान से पूर्ण ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर हम अविद्या से बच जायें। अपूर्ण ज्ञान होने से अविद्या से रक्षा नहीं हो सकती है। जब तक हम प्रधान कारण को कार्य्य से भिन्न मानेंगे हमारा ज्ञान अपूर्ण ही रहेगा। सौम्य और घोर का यह भेद वस्तुतः ब्रह्म में नहीं है। यह तो हम अज्ञानियों को विशेषण-भेद-व्यपदेश से ज्ञात होता है, जो बाधित है। उस ब्रह्म के सौम्य और असौम्य अनेक भावात्मक रूप हैं। असौम्य वा घोर को रुद्र के रूप में वेदों ने व्यक्त किया है। अधिक क्या? इस मन्त्र का तात्पर्य इस वेद-मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है—'अघोरेभ्यो अथ घोरेभ्यो घोर-घोर-तरेभ्यः सर्वतः सर्व-रूपेभ्यः' इत्यादि।

इससे विशेषण-भेद-व्यपदेश को दूर करने की प्रार्थना है, यह तात्पर्य है।

खड्ग-शूल-गदादीनि यानि चास्त्राणि ते अम्बिके !
कर-पल्लव-सङ्गीनि तैरस्मान् रक्ष सर्वतः ॥ २७॥

टीका—हे अम्बिके ! खड्ग, शूल, गदा आदि जो अस्त्र तुम्हारे कर-कमलों के साथ हैं, उनके द्वारा हमारी सब ओर से रक्षा करो।

व्याख्या–तम्हारे हाथ के जितने अस्त्र-शस्त्र हैं, उन सबसे हमारी सब प्रकार से रक्षा करो। 'कर-संगीनि' से तात्पर्य है क्रियात्मक आयुधों वा गुणों से अर्थात् क्रिया-शक्तियों से। ज्ञान-शक्ति देकर रक्षा करने की प्रार्थना पूर्व हो चुकी है। अतएव अब केवल क्रिया शक्तियों का कर्तव्य-बुद्धि से रक्षा करने की प्रार्थना की गई है, जिससे हम कर्त्तव्य कर्मों का ही सम्पादन करें। ये आयुध भगवती के गुणों के द्योतक हैं।

ऋषिरुवाच ॥ २८॥

टीका—ऋषि बोले—

व्याख्या-सुमेधा ऋषि ने स्तुति के उपसंहार-रूप में प्रकृत विषय का अनुसरण करते हुये सुरथ और समाधि से कहा—

एवं स्तुता सुरैर्दिव्यैः कुसुमैर्नन्दनोद्भवैः।
अर्च्चिता जगतां धात्री तथा गन्धानुलेपनैः॥२९॥
भक्त्या समस्तैस्त्रिदशैर्दिव्यैर्धूपैस्तु धूपिता।
प्राह प्रसाद-सुमुखी समस्तान् प्रणतान् सुरान् ॥३०॥

टीका—इस प्रकार भक्ति-पूर्वक देवताओं द्वारा स्तुति किये जाने पर तथा नन्दन-वन में उत्पन्न दिव्य पुष्पों, गन्ध-चन्दनादि द्वारा पूजा किये जाने पर और सभी देवताओं द्वारा दिव्य धूपों से धूपित किये जाने पर प्रसन्न-मुखी (देवी) ने प्रणाम करने-वाले सभी देवों से कहा—

व्याख्या–इस प्रकार भक्ति-पूर्वक अर्थात जीव-ब्रह्मैक्य भावना से त्रिदशों अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था-त्रयवालों या तुरीयावस्था-हीन आत्माओं द्वारा स्तुति की गई और दिव्य नन्दन (नदि–ल्यु) अर्थात् आनन्द-वन के पुष्पों से अर्थात् परमानन्दावस्था से उद्भूत आत्म-गोचर वृत्ति-स्वरूप पुष्पों से भावित तथा दिव्य भाव के गन्धानुलेपन अर्थात् सर्वात्म-भावना-रूपी गन्धों के अनुलेपन अथवा समर्पण से सूक्ष्म अर्थात् ब्रह्म-भावापन्न भाव से। धूपों से अर्थात् चिदग्नि-स्वरूपों से धूपित-अर्च्चिता का अर्थ है एक बुद्धि से भाविता। प्रसाद-सुमुखी का भाव है कि वरदान से प्रसन्न करने को उद्यता-प्रसन्न

मुखवाली विश्व-पोषण-कर्त्री ने समस्त दैवी सम्प-द्वानों से कहा।

देव्युवाच ॥ ३१ ॥

टीका–देवी बोली–

व्याख्या–देवी वा विग्रहवती परात्मा बोली। तात्पर्य कि प्रज्ञात्माओं से परात्मा ने कहा–

व्रियतां त्रिदशाः सर्वे यदस्मत्तोऽभिवाञ्छितम्।
ददाम्यहमति-प्रीत्यास्तवैरेभिः सुपूजिता ॥३२॥

टीका–हे समस्त देवों! मुझसे जो कुछ चाहते हो, माँग लो। इन स्तुतियों से सुपूजिता मैं अत्यन्त प्रीति के साथ दूँगी।

व्याख्या–हे देव-गण! अर्थात् हे प्रज्ञावस्था-प्राप्त आत्मा-गण! हमसे जो वर माँगना हो, माँग लो। वाञ्छा से तात्पर्य है वासना-क्षय के पश्चात् ब्रह्मी-ज्ञान की वाञ्छा से। मैं तुम्हारी स्तोत्र आदि क्रियाओं द्वारा सुन्दर रीति से या त्रुटि-रहित प्रकारों से पूजित होकर अति प्रीति से यानी बहुत स्नेहार्द्र होकर वर दूंगी।

देवा ऊचुः ॥ ३३ ॥

टीका–देवता बोले–

व्याख्या-देवगण बोले अर्थात् अपने मन की तात्कालिक अवस्था व्यक्त की–

भगवत्या कृतं सर्वं न किञ्चिदवशिष्यते।
यदयं निहतः शत्रुरस्माकं महिषासुरः ॥३४॥

टीका–भगवती ने सब कर दिया है, कुछ भी शेष नहीं है क्योंकि हमारा यह शत्र महिषासुर मार दिया गया।

व्याख्या–भगवती अर्थात् सर्वैश्वर्यशालिनी अर्थात् सब कुछ कर सकनेवाली द्वारा हमारा सब कार्य सम्पादित हो चुका है। इसमें कुछ शेष नहीं रह गया है। कारण हम लोगों का शत्रु महिषासुर-रूपी मोह मारा गया है – दूर हो गया है।

इससे प्रज्ञात्माओं की तृप्तावस्था, जिसके पश्चात् कुछ कर्त्तव्यता नहीं रहती है, बोध होती है।

यदि चापि वरो देयस्त्वयास्माकं महेश्वरि!
संस्मृता संस्मृता त्वं नो हिंसेथाः परमापदः ॥३५॥

टीका–हे महेश्वरि! यदि तुम्हारे द्वारा हमें वर देय ही है, तो स्मरण किये जाने पर तुम हमारे परम सङ्कट को नष्ट किया करो।

व्याख्या–हे महेश्वरि! अर्थात् हे परमा सत्ता-वाली! तथापि अगर तुम्हारी इच्छा वर देने की है तो जब-जब हम तुम्हारा स्मरण करें, तब-तब हमारे परमापद अर्थात् सबसे बड़े विघ्न अनात्माकार-वृत्ति का, जो अभानापादकावरण का परिणाम है, नाश करना।

यश्च मर्त्यः स्तवैरेभिस्त्वां स्तोष्यत्यमलानने!
तस्य वित्तर्द्धि-विभवैर्धन-दारादि-सम्पदाम् ॥३६॥
वृद्धयेऽस्मत्-प्रसन्ना त्वं भवेथाः सर्वदाम्बिके ॥३७॥

टीका–और हे निर्मल-मुखि! जो मनुष्य इन स्तुतियों द्वारा तुम्हारी स्तुति करे, उसकी धन-स्त्री आदि सम्पत्ति के वैभवों से अभिवृद्धि हो। हे अम्बिके! तुम वृद्धि के लिये हम पर सदा प्रसन्न रहो।

व्याख्या—हे चित्-स्वरूपे जगदम्बिके ! यदि वह मनुष्य, जिसने विमृत्युत्व नहीं प्राप्त की है, इस स्तुति से तुम्हारी आराधना करे, तो तुम हम लोगों के ऊपर जिस प्रकार प्रसन्न हो, उसी प्रकार उस पर प्रसन्न होकर उसकी वित्त की अर्थात् ज्ञान की समृद्धि या उन्नति करना। उसके सब प्रकार के धन और स्त्री-सम्पदाओं वा स्त्री-सन्तानादि सम्पदाओं की सर्वदा वृद्धि रहे अर्थात् उसकी अलौकिक और पार-लौकिक दोनों उन्नतियाँ हों।

इससे नित्य तृप्तात्मा की अवस्था वा जीवन्मुक्तावस्था का बोध होता है, जिसमें प्रज्ञात्मा अपनी स्वाभाविक करुणा-वशात् संसार के समस्त जीवों के कल्याण के निमित्त 'लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु' की प्रार्थना करता है।

ऋषिरुवाच ॥ ३८॥

टीका—ऋषि बोले—

व्याख्या—ऋषि सुमेधा पुनः सम्वाद के उपसंहार में बोले—

इति प्रसादिता देवैर्जगतोऽर्थे तथात्मनः।
तथेत्युक्त्वा भद्रकाली बभूवान्तर्हिता नृप ॥३९॥

टीका—हे राजन् ! देवों द्वारा अपने तथा संसार के लिये प्रसन्न की गई भद्रकाली 'ऐसा ही हो' यह कहकर अन्तर्ध्यान हो गईं।

व्याख्या—हे नृप अर्थात् मनुष्योचित व्यवसायात्मिका बुद्धिवाले ! इस प्रकार देव-गणों द्वारा अपने निमित्त और साथ ही संसार के समस्त जीवों के निमित्त प्रसन्नीकृता कल्याण-जननी 'ऐसा ही हो' कह कर अन्तर्हिता या अन्तर्ध्यान हो गई। भाव यह कि वाह्य-ज्ञान से हट कर अन्तश्चित्त-वृत्ति में अवस्थिता हो गई। अन्तर्हिता का लक्ष्यार्थ रूपातीता है।

इत्येतत् कथितं भूप ! सम्भूता सा यथा पुरा।
देवी देव-शरीरेभ्यो जगत्-त्रय-हितैषिणी ॥ ४० ॥

टीका—हे राजन् ! तीनों लोकों का हित चाहनेवाली वह देवी जिस प्रकार देव-शरीरों से उत्पन्न हुई थी, यह (कथा) इस प्रकार कही जा चुकी।

व्याख्या-हे भूप या भू-भाव की रक्षा करनेवाले ! अर्थात् हे ब्रह्म-भूमाधिकरण के ज्ञान रखनेवाले ! इस प्रकार पूर्व-काल में सब दैवी सम्पदाओं की एकत्र तेजोराशि के रूप में परिणता तीनों लोकों की शुभ कामना रखनेवाली महाशक्ति की कथा यहाँ कही गई है।

इससे यह बोध कराया गया कि प्रथम चरित अर्थात् पहले कथानक में अन्तर्लक्ष्या-रूप में इस महा धर्मी-शक्ति दुर्गा का ज्ञान हुआ और इस दूसरे कथानक में प्रकटीकृता सब दैवी सम्पदाओं की एकत्र तेजोराशि के रूप में भी उसी महा-धर्मी-शक्ति दुर्गा का ही ज्ञानावबोध है।

पुनश्च गौरी-देहात् सा समुद्भूता यथाभवत्।
वधाय दुष्ट-दैत्यानां तथा शुम्भ-निशुम्भयोः ॥४१॥
रक्षणाय च लोकानां देवानामुपकारिणी।
तच्छृणुष्व मयाख्यातं यथावत् कथयामि ते ॥४२॥

टीका—और पुनः देवों का उपकार करनेवाली वह दुष्ट दैत्यों तथा शुम्भ-निशुम्भ का वध करने के लिये और लोकों की रक्षा के लिये गौरी की देह से जिस प्रकार उत्पन्न हुई थी, वह मेरे द्वारा कथित सुनो, तुमसे ज्यों का त्यों कहता हूं।

व्याख्या-फिर और अर्थात् तीसरे प्रकार के रूप में गौरी या गौरी-शक्ति या सौम्य शुक्ला शक्ति, जिससे पूर्ण शक्ति का बोध होता है, शुम्भ और निशुम्भ-सहित समस्त दैत्यों के संहार एवं दैवी सम्पदावाली आत्माओं तथा समस्त लोकों के रक्षणार्थ जिस प्रकार विग्रहवती हुई थी, वह मैं तुम्हें बताता हूं, इसे सुनो। यह श्रवण वा श्रावण-क्रिया है, जिसके अनन्तर ही मनन-क्रिया होती है। गौरी (पार्वती) अर्थात् पूर्ण शक्ति से निकली शक्ति को अपूर्ण (घटिया) नहीं समझना चाहिये। यह कौशिकी शक्ति भी पूर्णा शक्ति है, कारण पूर्ण शक्ति से निकली अपूर्ण नहीं हो सकती। सोने को बनी वस्तु सोना ही होती है। नाम और रूप-भेद है, जिसको बाधित भेद कहते हैं।

शक्रादि-स्तुति का प्रयोग

(भूत-शुद्धि तन्त्र)

दीक्षित साधक नित्य-कर्म करके कम-से-कम १०८ एक सौ आठ बार नवार्ण मन्त्र का ध्यान-पुरस्सर ऋष्यादि-न्यासों को करके जप करे। ध्यान-पुरस्सर जप न करने से जप व्यर्थ होता है जैसा कि कुलार्णव कहता है—

मनोऽन्यत्र शिवोऽन्यत्र शक्तिरन्यत्र मारुतः।
न सिध्यति वरारोहे! लक्ष-कोटि-जपादपि।'

मन का अन्यत्र होना ही ध्यान-हीनता है। ध्यान ही मुख्य है। जप इसका साधन है। अतएव कहा गया है—'ध्यानेन लभते सर्वम्'—निर्वाण तन्त्र। जिस मन्त्र का जो देवता है अर्थात् मन्त्रार्थ से उद्दिष्ट जो देवता का स्वरूप बनता है, उसके अनुसार ही उस रूप का ध्यान करते हुये जप करना है—

यस्य यस्य च मन्त्रस्य उद्दिष्टा या च देवता।
चिन्तयित्वा तदाकारं मनसा जपमाचरेत्।

इतना ही नहीं किन्तु 'तद्-गत प्राण' अर्थात् अनन्य शरणागत भाव से जप करना है—

तन्निष्टस्तद्-गत-प्राणस्तच्चित्तस्तत्परायणः।
तत्-पदार्थानुसन्धानं कुर्वन् मन्त्रं जपेत् प्रिये॥
—कुलार्णव

इस प्रकार १०८ बार जप करके ११ बार शक्रादि-स्तुति का पाठ नित्य करे। श्रीदुर्गा भगवती की मानसोपचार से पूजा कर जप, तत्पश्चात् स्तुति-पाठ कर्त्तव्य है। दीप-शिखा पाठान्त जलती रहे। इसी में देवी का ध्यान कर्त्तव्य है। यह दिन में करे वा रात्रि में, जैसा अवकाश हो। इस प्रकार १०८ दिन करने के बाद फल का अनुभव होता है। यदि कर्मानुसार फल में विलम्ब हो, तो पाठ का त्याग नहीं कर्त्तव्य है। 'कलौ संख्या चतुर्गुणा' के अनुसार ४३२ दिन करे। फल अवश्यमेव देखने में आवेगा।

श्री नारायणी स्तुति-व्याख्या।

ऋषिरुवाच ।। १ ।।

टीका--ऋषि बोले—

व्याख्या--ऋषि से यहाँ सुमेधा अर्थात् प्रज्ञ आत्मा का तात्पर्य है। यही प्रज्ञात्मा व्यष्टि रूप में जीवात्मा अर्थात् पाश-वद्ध जीव को विमर्श-शक्ति के रूप में यथार्थ विशेष ज्ञान कराता है और समष्टि रूप में जीव-समुदाय को सद्-विमर्श अपने योग्य प्रतिनिधि-द्वारा देता रहता है।

देव्या हते तत्र महासुरेन्द्रे,
सेन्द्राः सुरा वह्नि-पुरोगमास्ताम्।
कात्यायनीं तुष्टवुरिष्ट-लाभाद्,
विकाशि-वक्त्रास्तु विकाशिताशाः ।।२।।

टीका--वहाँ देवी-द्वारा सर्वश्रेष्ठ असुराधिप के मारे जाने पर इन्द्रादिक देवता-गण वह्नि-देव को मुखिया वना मनोरथ पूर्ति होने पर प्रसन्न-मुख और विकशित आशा अर्थात् दिशाओं को प्रकाशित करनेवाली यद्वा अपनी-अपनी आशा-रूपी काम-कलिका को विकसित करनेवाली कात्यायनी (भगवती) को तुष्ट अर्थात् प्रसन्न किया।

व्याख्या--'तत्र' से युद्धाङ्गण वा समर-भूमि का वोध है। इस भूमि-क्षेत्र को धर्म, कुरु, कर्म-क्षेत्र कह सकते हैं, जहाँ पञ्च-प्राण-रूपी आत्मा-द्योतक पञ्च-पाण्डवों का अन्ध अर्थात् अज्ञान अविद्या के शत-पुत्रों अर्थात् वहु-संख्यक अनातमाकार वृत्ति-रूपी दुर्योधन आदि इसी क्षेत्र में आत्माकार और अनात्माकार वृत्तियों से युद्ध होता आ रहा है। इसी की संज्ञा महर्लोक वा अनाहत-चक्र वा हृदय है। इसी की एक संज्ञा लंका है—लक् वेदने-अच्—नुम्, जिसका शब्दार्थ है सम्वेदन-स्थान। इसी हेतु राम से रावण अर्थात् दैव-सर्ग-नायक आत्मा-रूपी राम से रावण अर्थात् आसुरी सर्ग-नायक वा अनात्माकार-वृत्ति-रूपी असुरों के नायक मूर्तिमान् अहंकार का युद्ध हुआ था।

'महासुरेन्द्र' से सर्वश्रेष्ठ असुर वा आसुरी सर्गों के नायक अर्थात् मूल प्रधान अहंकार-स्वरूप शुम्भ का वोध है। अहङ्कार ही मूल अविद्या है, जिसके सहकारी-गण हैं ममता, दर्प, क्रोध, काम, लोभ इत्यादि। यदि अहन्ता वा अपराहन्ता भाव रहे, तो ममता, क्रोधादि सहकारी अनात्माकार-वृत्तियाँ स्वतः नहीं रहेंगी। इसी हेतु 'असुरेन्द्र'-पद का प्रयोग किया गया है।

'देवी' से क्रीड़ा वा लीला-शीला परमा-सत्ता का बोध है। लीला अकेले एक से नहीं हो सकती। लीला-भूमि-परिमाणानुसार ही पात्रों के परिमाण की आवश्यकता है। उसमें भी लिङ्ग वा लक्षण-वैपरीत्य की आवश्यकता है। जिस प्रकार अकेले ऋणी (निगेटिव) विद्युत् सर्ग से काम नहीं चलता और इसको धनी (पोजिटिव) विद्युत् सर्ग की आवश्यकता है, उसी प्रकार आत्म-शक्ति को क्रीडार्थ आत्माकार और अनात्माकार दोनों वृत्तियों की आवश्यकता है। इन्हीं दोनों परस्पर-विरोधी सर्गों के द्वारा आत्म-शक्ति खेलती रहती है। इसी से

इसका नाम है देवो।

इन्द्र 'इदि धारणे—रन् उणादि' अनेकार्थ-वाचक पद है। यहाँ यह एकादशों इन्द्रियों के अधि-पति आत्मा का द्योतक है। इन्द्रिय इन्द्र—इयच् पद के अर्थ से ऐसा ही बोध है। इसी इन्द्र के समास-रूप की वेदों ने स्तुति की है—'योगे योगे नवस्तर वाजे वाजे हवामहे। सखाय इन्द्र-मूर्तये'—ऋ० १।३०।७। यह सखा वा मित्र-भाव की स्तुति है। ठीक है, आत्मा ही तो अपना बन्धु है—'आत्मैव ह्यात्मनो वन्धु'—गीता। सेना-नायक के रूप में यह स्तुति है—'वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंश-मुदवा भरे भरे। अस्मभ्यमिन्द्र वरिवः सुगं कृधि प्रशत्रूणां मघवन् वृष्ण्या रुजः ॥'—ऋ० १।१०२। ४। इसी प्रकार इन्द्र-रूपी आत्मा की माता-पिता ज्ञान-दाता आदि सभी रूपों में वेदों ने स्तुति की है। इसी प्रकार 'सेन्द्राः' पद से आत्मा-सहित एका-दश इन्द्रियों का बोध है।

'सेन्द्राः सुराः' पद का विशेषण 'वह्नि पुरो-गमाः' पद है। यद्यपि इन्द्र देव-गण वा दैवी सर्गों का यद्वा एकादशों इन्द्रियों का मुखिया है, तथापि यहाँ वह्नि को ही पुरोगामी बनाया गया है। इसमें भी रहस्य है। यहाँ वह्नि से भूत-वह्नि वा भूताग्नि का तात्पर्य नहीं है। यहाँ वह्नि वह्—नि उणादि से धारिका शक्ति का तात्पर्य है। शास्त्रों ने विशेषतः तन्त्रशास्त्रों ने इसको ऐसा हा माना है। वेदों ने इसकी सभी रूपों में स्तुति की है। 'अग्नि मीले पुरोहितम्' ऋ० १।१।१। यहाँ पुराहित 'पुरस्-हित' अर्थात् प्रथम मित्र के रूप में है। कारण धर्म्म ही जीव का सर्व-प्रथम मित्र वा पूर्व-जन्मान्तरों का मित्र है यद्वा 'हित' पद का अर्थ है धारित।

फिर इसकी शिव, सखा, ऋषि कहकर स्तुति की गई है—'त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिर्देवो देवानाम-भवः शिवः सखा ॥'—ऋ० १।३१।१। यह देव-गण का कवि है अर्थात् वाक्-शक्ति है—'त्वमग्ने प्रथमो अंगिरस्तमः कविर्देवानां परिभूषसि व्रतम्'—ऋ० १।३१।२। संक्षेप में यह सम्विदग्नि वा ज्ञानाग्नि के रूप में मुखिया है।

इस सम्विदग्नि के तेज से ही देव-गण विशिष्ट वा विशेष रूप से काशित वा दीप्त-मुख हैं। 'विका-शि-वक्त्राः' से अन्तर्मुखो अखण्डाकार-वृत्तिवालों का बोध है। वात ठीक है। अविद्या के दूर हो जाने पर ही प्रसन्नता 'प्रकृष्ट सन्नता' सद् गमने मिलने वा तादात्म्य होता है।

'विकाशिताशाः' पद के दोनों अर्थ हैं जैसे टीका में कहे गये हैं। आशायें जिनकी विकशित अर्थात् विशेष रूप से दीप्त हो गयी हैं। इससे ऐसा बोध है कि जिनसे दशों दिशायें प्रफुल्लित हो गयी हैं। अर्थात् सर्वतोमुखी प्रकाशमयत्व वा ज्योतिर्मयत्व इनमें आ गया है। यद्वा जिनकी आशायें वा काम-नायें विशेष रूप से प्रदोप्त हो गई हैं। तात्पर्य कि इष्ट-लाभ अर्थात् वर्तमान कामना-पूर्ति से भविष्य आशा-पूर्ति भो निश्चित दीख पड़ने लगी है।

'कात्यायनो' (कातस्य गोत्रस्यापत्यं स्त्री कात्यायनी) पद यहाँ दुर्गा-बोधक है, न कि कात्या-यन मुनि की कन्या का। दुर्गा परमा-सत्ता के तो अनेक रूप हैं। अलमधिकेन, सप्तशतो में ही तीन रूपों का प्रतिपादन है—महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती। यह स्तुति उत्तम चरित की है, जिसकी नायिका महा-सरस्वती वा महा-वाक्-शक्ति है। इस कात्यायनी पद से वाक्-शक्ति का ही बोध है। विशेषतः जब इसके शब्दार्थ से भी ऐसा बोध है। 'कात' नाम गोत्र का है। अव इसी गोत्र पद का, जो 'गुशब्दे-त्र उणादि, से वनता है, अर्थ है वाग-

रूपिणी रक्षण कर्त्री अर्थात् जिसके उच्चारण मात्र से रक्षा हो (इसी भाव का अर्थ है गायत्रो पद का 'गायति त्रायते च'। यद्वा गोत्र 'गां पृथ्वीं त्रायते' का अर्थ है पृथ्वी वा विश्व॰की रक्षा करनेवाली। (पूर्व पंक्षार्थ ही युक्ततम है। कारण 'दुर्गा'-पद के उच्चारण मात्र से सभी प्रकार को आपदाओं से रक्षा होती है। इसी से दुर्गा की यह विशेष पर्यायवाचक संज्ञा है।) देवी-पुराणोक्त इसकी परिभाषा है—'कं ब्रह्म कं शिरः प्रोक्तमशम-सारं च कं तम्। धारणाद वासनाद् वापि तेन कात्यायनी मता।।'

देवा ऊचुः–

टीका—देवता कहने लगे—

व्याख्या—समष्टि-भाव में विश्व के सभी वहिः और अन्तः परिचालक इन्द्रिय-गण वा तत्-तत इन्द्रिय-अधिष्ठात्री सत्ता-गण सम्मिलित हो एक स्वर में अखण्डाकार-वृत्ति में आकर मनन करते श्रावण-क्रिया करने लगे, ऐसा वोध है। यह श्रावण-क्रिया केवल दूसरों के ही हेतु नहीं होती, अपि च स्वयं श्रावण-कर्त्ता के वारम्वार मनन करने के निमित्त भी है। व्यष्टि-भाव में जीवात्मा के प्रति अन्तरात्मा वा प्रज्ञात्मा के उद्‌गार का परिचायक है, जव सभी इन्द्रियाँ (मन-सहित) आत्मा के पूर्ण अधीन हो जाती हैं।

एक विशेषता इसमें यह है कि वह्निदेव को पुरोगामी वनाकर भी सेन्द्र देव-गण स्वयं स्तवन करते हैं। इसका यह कारण है कि वह्नि ही परमा-शक्ति का मुख है—'तस्या अग्निरेव मुखम्'—श्रुति। विद्वत्व आदि का विसर्ग है—'विदत्वादीनां तत्र निंसर्गादेव वृत्तेः'। इसका यह तात्पर्य है कि तैजस् शक्ति के द्वारा ही वाक्-शक्ति में स्पन्दन हो वैखरी-रूप में वाक् व्यक्त होती है। इसी कारण इन्द्रादि देवता अर्थात् कुल इन्द्रियों के सहित इन्द्रियों के राजा इन्द्र अर्थात् आत्मा तैजस् द्वारा वाक्-शक्ति को स्पन्द-शीला कर पश्यन्ती और मध्यमा-वाक् को वैखरी-रूप में लाकर स्तुति करते हैं। इसका अनुभव उन्हीं साधकों को होगा, जो वह्नि-वीज से कुण्डली वा जीव-शक्ति को शुद्ध और प्रदीप्त कर सकते हैं।

> देवि प्रपन्नार्त्ति-हरे प्रसीद,
> प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य।
> प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं,
> त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य।। ३ ।।

टीका—हे देवि ! शरणागत की आर्त्ति अर्थात् दुःख हरनेवाली ! प्रसन्न होओ। विश्व की रक्षा करो। हे देवि, तुम चर और अचर अर्थात् चलनेवाले और स्थिर रहनेवाले दोनों की स्वामिनी हो।

व्याख्या—'देवि' पद से यहाँ 'दिव् प्रकाशे' प्रकाश करनेवाली यद्वा ज्ञान देनेवाली महा-विद्यात्मिका सत्ता का वोध है। साधारणतया महा-सरस्वती से प्रकाश-शक्ति का, जिससे अविद्या-तम वा अविद्या-जनित अन्धकार अर्थात् अज्ञान दूर होता है। सरस्वती की योगवाशिष्ठी परिभाषा है—'सरणात् सर्व-दृष्टीनां कथितैषा सरस्वती'—निर्वाण प्र० उत्तरार्ध ८४।१२।

प्रपन्नार्त्ति-हरे—प्रपन्नों की आर्त्ति की हरनेवाली। प्रपन्न 'प्र—पद् गमने—क्त' का शब्दार्थ है प्रकृष्ट रूप से गया हुआ। अव प्रश्न है कि किस भाव से ? द्वैत-वुद्धया, अथवा अद्वैत-वुद्धया, क्षणिक वा नित्य; सव प्रकार से वा आंशिकतया ? यथार्थ प्रपन्न वा शरणागत होने का तात्पर्य है अनन्य

होकर और सब धर्मों का परित्याग कर अर्थात् सब कुछ उसी एक में संन्यस्त कर आश्रित होना। कृष्ण भगवान् भी ऐसा ही कहते हैं--'सर्व-धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज'--गीता। अद्वैत-भाव में इससे लय अर्थात् अहन्ता भाव के लय का बोध है और द्वैत-भाव में निर्भरा अव्यभिचारिणी भक्ति का बोध है।

आर्त्ति 'आङ्--ऋत् चालने-क्तिन्' का शब्दार्थ वा वाच्यार्थ है चालित वा तापित मन की अवस्था। दुःख वा ताप से ही मन दुःखित हो त्राण पाने को व्यग्र हो उठता है। यह दुःख वा ताप किसी प्रकार का क्यों न हो। संक्षेप में 'आर्त्ति'-पद से भौतिक, दैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के दुःखों का बोध है। इसी भाव का द्योतक पद है 'त्रि-जगदघ' अर्थात् तीनों जगत् का पाप।

आर्ति-हरा अर्थात् दुःख हरनेवाली एक यही है। अर्थात् प्रकाश वा विज्ञान-शक्ति के ज्ञान से हो सब पाप और इसके परिणाम-स्वरूप दुःख वा ताप दूर होते हैं कारण इसकी उपासना अर्थात् सामीप्य-ज्ञान भोगदा और पर-भोगदा अर्थात् मोक्षदा दोनों हैं।

प्रसीद 'प्र--प्रकर्षेण—सद् गमने लोट्' का शब्दार्थ है प्रसन्न होओ। इससे अन्तस्तात्पर्य है कि खूब अच्छी तरह से मुझमें मिल जाओ अर्थात् तादात्म्य कर लो।

'अखिलस्य जगतः मातः प्रसीद'—अखिल अर्थात् अखण्ड वा समस्त जगत् अर्थात् सम्यक् प्रकार से अर्थात् क्रमानुसार नियमित रूप से चलनेवाले दृश्यमान निरामय ब्रह्म के रूप की माता प्रसन्न होओ। यहाँ 'माता'–पद अनेकार्थ-वाचक है। माता से उपादान-भूता जननी वा सवित्री का बोध होता है। फिर इससे एतद् भाव की मान-कर्त्री शक्ति का भी बोध है। फिर 'मान्यते इति माता, मान् पूजायाम्'—तात्पर्य कि समस्त जगत् की पूज्या वा आराध्या शक्ति का इससे बोध है। फिर 'माति परिच्छिन्नति इति माता'--तात्पर्य कि अपने गर्भ में समस्त जगत् को परिच्छिन्न कर रखनेवाली का बोध है। इस भाव में योग-वासिष्ठ के शब्दों में ऐसा बोध है—'अशून्यमिव यच्छून्यं यस्मिन् शून्ये जगत् स्थितम्' अर्थात् अशून्य-सदृश्य जो शून्य है और जिस शून्य में ही जगत् है। इसी से इसको 'विश्व-गर्भा—विश्वो यस्या गर्भे अस्ति' कहते हैं। इसी हेतु गीता कहती है-'सर्वञ्च मयि पश्यति।'

यहाँ 'अखिल' पद का प्रयोग अहैतुक नहीं है। पद के एक देश अर्थात अंश-दग्ध हो जाने पर भी 'पटो दग्धः' ऐसा प्रयोग होता है। इसी एक-देशत्व-भाव का निरास करनेवाला और समस्त वा अपरिच्छिन्नत्व का सूचक है 'अखिल' पद का प्रयोग।

'विश्वेश्वरि प्रसीद'—हे विश्व की ईश्वरि, प्रसन्न होओ। विश्व से स्थूल-दृष्ट्या चिति-व्याप्त समस्त संसार का बोध है परन्तु सूक्ष्म-दृष्ट्या सर्व-व्यापिनी चेतना का बोध है, जिसकी यह महा-चिति ईश्वरी वा स्वामिनी है। यद्वा विश्वों की, जिनकी संख्या दस है, स्वामिनी— ऐसा भी अर्थ हो सकता है। इस भाव में दश दिग्-व्यापिनी सत्ताओं की अधीश्वरी है, ऐसा बोध है। व्यष्टि-भाव में पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और इनकी पञ्च-तन्मात्राओं की अधिष्ठात्री दश सत्ताओं की स्वामिनी है, ऐसा बोध है।

ईश्वरी 'ईश शासने - वरट्—ङीप्' का शब्दार्थ हो है शासन करनेवाली। ईश्वर की भिन्न-भिन्न परिभाषायें हैं। जहाँ सांख्य में ईश्वर का विकृत सीमित रूप है; योग-दर्शन में सीमा-रहित रूप होता हुआ भी पूर्ण अस्पष्ट रूप है; न्याय में सगुण

और ससाम रूप है, वहाँ वेदान्त में विश्व-व्यापक सत्ता के रूप में प्रतिपादित है। तन्त्रशास्त्र में अर्थात् शाक्त वेदान्त के अनुसार 'ईश्वर'-पद के उपहित चेननात्मक महा-चिति के द्वितीय रूप का बोध है। जगन्माता का रूप जगत्-सवित्री है और ईश्वरी के रूप में धरित्री वा पालन-कर्त्री है, ऐसा तात्पर्य है। इसी कारण इसकी प्रसन्नता की आवश्यकता 'पाहि विश्वम्' पद से स्पष्ट होती है।

'पाहि' पद से संरक्षण और पोषण-क्रिया द्वय का तात्पर्य है। यह तो सर्व-विदित है कि पालन-क्रिया विना रक्षण-क्रिया पूरी नहीं होती। अब 'विश्वं पाहि' अर्थात् विश्व की रक्षा करो इस उक्ति से यह तात्पर्य है कि विश्व की विकास-शृङ्खलता वा विकाश-क्रम की रक्षा करो (विकाश-क्रम को आंग्ल भाषा में 'कोर्स आफ़ इवाल्यूशन' कहते हैं। 'इनवाल्यूशन' से ही रक्षा करनी है)। वस्तुतः पूर्णत्व का परिचय पाना ही विकास वा 'इवाल्यूशन' है। इसमें रक्षण से खण्डाकार वृत्यात्मक होने से बचाने का तात्पर्य है। समष्टि-रूप में समष्टि के निमित्त प्रार्थना है।

'चराचरस्य' पद में समाहार द्वन्द्व समास में ऐसा रूप है—'चरं च अचरं च तयोः', जिसका अर्थ है चर भी हैं और अचर भी हैं। इन गुण-द्वय-विशिष्टों की। फिर दूसरा भी समास है। यह निर्धारणे षष्ठी है, जिससे गुण-पृथक्तावश पृथक् पृथक् पदार्थों का बोध होता है। अस्तु, संक्षेप में इस पद से तीन प्रकार के पदार्थों का बोध होता है। एक चर अर्थात् जङ्गम वा चलनेवाले चैतन्य जीव, दूसरा अचर अर्थात् स्थावर वा स्थिर रहनेवाले अर्ध-चेतन्य जीव और तीसरा दोनों गुणों के संमिश्रित धर्मी जीव। यद्वा इससे जाग्रदवस्था, स्वप्नावस्था और सुषुप्ताव-स्था-गत जीवों का बोध होता है।

आओ शाक्त-बन्धु ! हम भी इसी प्रकार स्व-स्थित चेतना-शक्ति से प्रार्थना कर अपनी-अपनी दौड़ती बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी बना अपने-अपने क्षुद्र विश्वों की रक्षा करें।

> आधार-भूता जगतस्त्वमेका,
> मही-स्वरूपेण यतः स्थिताऽसि।
> अपां स्वरूप-स्थितया त्वयैतदा-
> प्यायते कृत्स्नमलंघ्य-वीर्ये ॥ ४ ॥

टीका—तुम्हीं एक (समस्त) जगत् की आधार-स्वरूप हो क्योंकि पृथ्वी-स्वरूप से स्थित हो। हे अपार शक्तिवाली ! जल-स्वरूप से स्थित तुमसे ही यह कृत्स्न अर्थात् जगत् आप्यायित अर्थात् तर्पित यद्वा सम्वर्धित होता है।

व्याख्या—इस पद्य में आधार-भूता होने से चिति-शक्ति की व्यापकता दर्शित है—देव्या यया ततमिदं जगदात्म-शक्त्या निःशेष-देव-गण-शक्ति-समूह-मूर्त्या।' यहाँ दो देव-शक्तियों 'मही' व 'अपां' का उल्लेख है ! 'एका' पद सें इस महा-शक्ति की निर्द्वन्द्वता का बोध है जैसा कि इसने स्वयं अह-ङ्कार—अपराहन्ता-रूपी शुम्भ से कहा है—'एकै-वाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा', जिससे पराहन्ता का बोध होता है और जिसमें ही अहन्ता वा शुम्भ का लय हुआ।

आधार 'आ—समन्ताद् धारयति इति आधारः' अर्थात् सब प्रकार से धारण करनेवाले से अधि-करणता-प्राप्त व्यक्ति का बोध होता है, न कि जैसा हम साधारणतया स्थूल-दृष्ट्या किसी धार्य वस्तु के नीचे से टेकनेवाले पदार्थ को आधार समझते हैं।

यथा हम पौराणिक कथनानुसार पृथ्वी के आधार से शेषनाग को समझते हैं परन्तु यथार्थतः सूर्य की आकर्षण-शक्ति ही पृथ्वी का आधार है क्योंकि इसी आकर्षण शक्ति (मैग्नेटिक पावर) से पृथ्वी की स्थिति है, अन्यथा यह (पृथ्वी) कभी-न-कभी उच्छृङ्खल होकर अन्य ग्रहों से टकराकर चूर्ण-विचूर्ण हो जाती।

मही 'मह—इ—ङीप्, मह पूजयाम्' नाम पृथ्वी का भी है। पृथ्वी जिस प्रकार सब पदार्थों—सब तत्वों आदि की धारण करनेवाली है, उसी प्रकार तुम भी सत्-असत्, चित्-अचित् आदि सब वस्तुओं को मही-स्वरूपा अर्थात् विराट-रूपा हो धारण करती ही। इसी कारण इस शक्ति की एक संज्ञा जगद्धात्री है। इस महा-धात्री की धारण-शक्ति के अनुभव का किञ्चित आभास हम अज्ञानियों को इसकी पृथ्वी-मूर्ति देखकर मिलता है। जिस प्रकार मृत्तिका-रूप में पञ्च-तत्वों को अर्थात् यावतीय पदार्थों को अपने में रखा है. उसी प्रकार तुम्हारे विराट् रूप के मातृ-क्रोड़ (गोद) में हम सब भले और बुरे, नित्य और अनित्य आदि हैं। तात्पर्य कि तुमसे भिन्न नहीं हैं। ऐसी ही धारणा करनी है।

इस पूर्वार्ध-पद से हमको मातृ-क्रोड़ की महिमा मातृ-निर्विषमता—'कुपुत्रे सत्पुत्रे नहि भवति मातुर्विषमता' अर्थात् समान वात्सल्य-भाव आदि का वोध होता है।

'अपां स्वरूपे' अर्थात् जलों के रूप में। यहाँ उस आप् वा जल का वोध है, जो विश्व को सृष्टि के हेतु अग्नि को अपने गर्भ से जनता है—'आपो ह यद् वृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्—ऋ० । १० । २१ । ७। यह वह सोम-रूपी अपस् है, जो सूर्य, पृथ्वी आदि समस्त नक्षत्रों का आप्यायित कर वलवान् करता है—'सोमेनादित्या वलिनः सोमेन पृथिवी मही अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः' ऋग्० १० । ८५ । २। संक्षेप में इस 'अपां स्वरूप' से ज्योति, रस और अमृत त्रि-विशिष्ट ब्रह्म रूप का बोध है—'ॐ आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म'। पूर्व-कथित सोम हो रस और अमृत है। इस आप् की—'आपो वा इदं सर्वं; सम्राडापो विराडापः स्वराडापः सत्यमापः आप ओं' इन श्रौत परिभाषाओं से हमें पता चलता है कि महा-चिति ने किस प्रकार 'आप्'—रूप में विश्व को व्याप्त कर रखा है। यही विश्व का प्राण है। जो विश्व को सार्वशिक भाव से प्राण-रस से ओत-प्रोत कर रखता है। अन्यथा इसकी स्थिति ही न रहती। इतना ही नहीं, सृष्ट नहीं हो सकता। हम तान्त्रिक जो स्वदेह-स्थित स्वेष्ट का तर्पण करते हैं, उससे अपनी प्राण-शक्ति को आप्यायित कर वलवती करते हैं।

'अलंघ्य-वीर्या' अर्थात् अपार शक्तिवाली इस हेतु कही गई है कि इसके वीर्य वा शक्ति का ज्ञान किसी को भी नहीं है। इसी हेतु सप्तशती में इन्द्रादि देव-गणों की असकृत् अर्थात् अनेक उक्तियाँ हैं—'यस्याः प्रभावमतुलं भगवाननन्तो ब्रह्मा हरश्च नहि वक्तुमलं वलञ्च'; किं वर्णयाम तव रूपमचिन्त्यमेतत् किं चातिवीर्यम्'; 'न ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा'; 'केनोपमा भवतु तेऽस्य पराक्रमस्य' इत्यादि।

आओ शाक्त बन्धु ! यदि हम यथार्थतः शाक्त होना चाहते हैं, तो गुरु-मुख से कौशल सीख कर अचिन्त्य और अलंघ्य महा-शक्ति के अल्प-तम ज्ञान का अनुभव स्व-स्थित शक्ति-ज्ञान-द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करें। तात्पर्य कि षट-चक्रों के मूलाधार

और स्वाधिष्ठान चक्रों का रहस्य-ज्ञान और वहाँ कुंडलो को आरोहण-क्रिया सोखकर पृथ्वो और जल-तत्व के ज्ञान का स्वानुभव करें। इसी से इस अचिन्त्य और अपार महा-शक्ति का यत्-किञ्चित् पता पा सकते हैं।

> त्वं वैष्णवो शक्तिरनन्त-वोर्या,
> विश्वस्य वोजं परम ऽसि माया।
> सम्मोहितं देवि समस्तमेतत्
> त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्ति-हेतुः ॥ ५ ॥

टोका—हे देवि, तुम अनन्त सामर्थ्यवाली परमात्म-शक्ति हो। (फिर) तुम परमोत्कृष्ट माया (के रूप में) विश्व का वीज वा कारण हो। (तुमसे) यह समस्त विश्व सम्यक् प्रकार से मोहित है। (अतएव) तुम्हीं प्रसन्न होने से संसार में मुक्ति का कारण हो।

व्याख्या—'देवी'-पद से यहाँ व्यावहारिका शक्ति का वोध है—'देवयति सर्वान् प्रवृत्ति-निवृत्युपदेशेन व्यवहारयति इति देवो।' कारण यहो एक अपने को आवृत कर जीव को सम्मोहित कर प्रवृत्ति करानेवालो प्रवर्त्तिका शक्ति भी है और प्रसन्न होकर प्रकृष्ट रूप से गता अर्थात् हृद्-गता हो अपने स्वरूप को वोधित कराकर निवृत्ति-कारिणो अर्थात् मुक्ति-दायका शक्ति भी है।

'अनन्त-वीर्या' द्वयर्थ-वाचक पद है। वोर्य का अर्थ सामर्थ्य और वोज दोनों है। ये दोनों अर्थ उपयुक्त हैं। यह अनन्त अर्थात् असोम शक्तिवालो भो है और अनन्त वा असंख्य पदार्थों को वोज-स्वरूपा वा कारण-स्वरूपा भो है। इस पद से अनन्त-प्रभावा का वोध है। यह सगुण ब्रह्म-शक्ति का एक विशेष लक्षण है।

'वैष्णवो-शक्ति' अनेकार्थ-वाचक पद है। विष्णु विश्—नु उणादि' के दोनों रौढ़िक और योग-रौढ़िक अर्थ हैं। प्रायः यह कहना अयुक्त नहीं होगा कि रौढ़िक अर्थ विशेषतया कल्पित हैं, यद्यपि ये भी निराधार नहीं हैं। तथापि योग-रौढ़िक अर्थ से ही रहस्यार्थ-ज्ञान की प्राप्ति होती है। रौढ़िक भाव में विष्णु अनेक हैं और अनित्य हैं। यहाँ 'व्यापनाद् विष्णुः' का ही तात्पर्य है अर्थात् इस पद मे सर्व-व्यापिनी महा-शक्ति का वोध है।

'परमा माया' अर्थात् महा-माया से उस सर्व-श्रेष्ठा मीयते अनया इति माया' यद्वा 'विश्वं वा स्वं माति परिच्छिन्नति इति माया' का वोध है। यद्वा योग-वासिष्ठ के शब्दों में 'चित्तं जीवो मनो माया प्रकृतिश्चेति नामभिः।' साधारणतया मन ही माया है अर्थात् व्यष्टि-मन माया है।। इस प्रकार परमा माया से समष्टि-मन का वोध है। भेद इन दोनों में यह है कि जहाँ व्यष्टि में माया जोव में अज्ञान का कारण होकर बन्धन का कारण होती है, वहाँ समष्टि में आवरण मात्र का काम कर रह जाती है और पर-जीव वा महा-जीव 'एवं ब्रह्म महा-जीवो विद्यतेऽन्तादि-वर्जितः'—(योग-वासिष्ठ) इस महा वा परमा माया से विकृत नहीं होता। 'अव्या-कृता हि परमा ···' चण्डी।

यद्वा 'परमा' से परमात्म (शक्ति) मान वा जीव-भाव से विच्छिन्नीकरण होता है। उसी का नाम परमा है—'परः परमात्मा मोयते जीव-भावेन विच्छिद्यते अनया इति परमा।' इसी भाव में विश्वस्य वीजं कही गई है।

यह ऐसा जटिल प्रश्न है कि शाक्त-वेदान्त के सिवा और किसी ने इस माया को ठीक से नहीं समझा। भगवान कृष्ण ने इसी कारण इसको

दुरत्यया कहा है—'मम माया दुरत्यया'—गीता। संक्षेप में इसका परिचय यही है कि यह धर्मी मूला शक्ति (ब्रह्म) का वह रूप है, जो अपने को त्रिगुणों से वेष्टित कर लीला करती है—'देवात्म-शक्तिः स्वगुणैर्निगूढ़ा।'

'विश्वस्य वीजम्'—विश्व का वीज 'विशेषेण जायते अनेनेति वीजम्'। ऐसा भगवान् कृष्ण ने भी कहा है—'यच्चापि सर्व-भूतानां वीजं तदहमर्जुन'—गीता १०।३९। वीज से किसी एक कारण का वोध नहीं है। इससे सभो प्रकार के निमित्त, उपादानादि कारणों का वोध है। वस्तुतः ब्रह्म वीज-सदृश ही है जैसा कि योग-वासिष्ठ कहता है—'ब्रह्म सर्वं जगद्-वस्तु पिण्डमेकमखण्डितम्। फल-पत्र-लता-गुल्म-पीठ-वीजमिव स्थितम्।' उत्पत्ति-प्रकरण ६७।३६। इसी से ब्रह्म अर्थात् महा-चिति वा महा-सत्ता से, जो ब्रह्म, परमात्मा आदि नाम से पुकारी जाती है—'महा-चिदेकेवास्तीह महा-सत्तेति योच्यते। ··· सा ब्रह्म परमात्मादि-नामभिः परिगीयते।'—योग-वासिष्ठ निर्वाण प्र० पू० ७८।३४, सभी का प्रभव कहा गया है, जिससे सर्व अर्थात् अखिल विश्व का प्रवर्तन वा विशेष रूप से वर्तन 'विवर्त' है—'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'—गीता।

संक्षेप में इस 'विश्वस्य वीजम्' पद से आद्या शक्ति वा आदि-शक्ति का वोध है, जिसका उल्लेख योग-वासिष्ठ में इन शब्दों में किया है—'वीजं जगत्सु ननु पञ्चक-मात्रमेव वीजं परा-व्यवहित-स्थिति-शक्तिराद्या।।' उत्पत्ति प्र० ११।३२। यही पद 'हेतुः समस्त-जगताम्' पद का पर्यायवाचक है। यद्वा विश्व नाम विष्णु का है। इस प्रकार विष्णु वीज है—'जनितोत विष्णोः' श्रुति। इससे व्यापिनो-शक्ति का वीज अर्थात् पर-विन्दु है, ऐसा वोध है।

'सम्मोहितम्' अर्थात सम्यक् प्रकार से मोहित अर्थात् अयथार्थ ज्ञान से बाधित पद से एकाधिक तात्पर्यों का वोध है। मोहित वा मुग्ध कई कारणों से होता है। यथार्थ और अयथार्थ तथा अपूर्ण ज्ञानों इन सभी से मुग्ध होता है। साधारणतया इसी सम्मोहन-क्रिया से प्रपञ्च की स्थिति है। यदि यह सर्व-मोहिनी शक्ति न रहती, तो भगवती की लीला वा खेल न चलता (त्रैलोक्य-मोहन चक्र के वासनार्थ से इस सम्मोहिना-शक्ति के अन्तस्तात्पर्य का वोध है)। विश्व की सम्मोहितावस्था का उल्लेख भगवान् कृष्ण ने इस प्रकार किया है—'आश्चर्य-वत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्य-वद् वदति तथैव चान्यः। आश्चर्य-वच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चिद्'—गीता २।२९। यह हुई अपूर्ण यथार्थ ज्ञानियों की वात। पूर्ण ज्ञानियों की भो सम्मोहिता-वस्था होती है। यह अखण्डाकार-वृत्ति की एक केन्द्रीय स्थिति का द्योतक है। अज्ञान-जनित सम्मोहन का तात्पर्य है स्व-स्वरूप की विस्मृति। ऐसा श्रुति कहती है—'अनीशया शोचति मुह्यमानाः अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः जघन्यमाना अपियन्ति मूढ़ाः।'

प्रसन्न होने से मुक्ति कारण-स्वरूपा हो। प्रसन्न से प्रकृष्ट रूप से गता अर्थात् विदिता अर्थात् स्वरूप-वोध होने पर वा तादात्म्य-भाव होने पर ही विद्या वा परा-विद्या-रूपिणो होने के कारण मुक्ति का कारण हो—'विद्ययामृतमश्नुते', 'तामेव विदित्वाति-मृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'—श्रुति।

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः,
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।

त्वयंकया पूरितमम्बयतत्,
का ते स्तुतिः स्तव्य-परा परोक्तिः ॥ ६ ॥

टोका– हे देवि ! विश्व में जितनी विद्यायें हैं, ये तुम्हारे ही भेद हैं और स्त्रियाँ जितनी हैं, ये तेरी ही कलाओं से युक्त हैं यद्वा जितनी विद्यायें—जितनी स्त्रियाँ हैं, ये सभी तुम्हारी ही कलाओं से युक्त तुम्हारे ही भेद अर्थात् विभिन्न मूर्तियाँ हैं। तुम अम्बा से ही यह (विश्व) परिपूरित है। इस अवस्था में तुम्हारी क्या स्तुति अर्थात् किस प्रकार स्तुति हो सकती है ? कारण तुम स्तव-परा अर्थात् अशक्त-स्तव्या वा स्तुति से परे हो और उक्ति अर्थात् वाक्यों से परे हो, अवस्थिता हो।

व्याख्या—हे देवि, 'दिव् प्रकाशे' अर्थात् हे प्रकाश-शक्ति ! जितनी विद्या 'विद्यन्ताभिरिति विद्याः' अर्थात् संवित् शक्ति-समूह हैं, ये तुम्हारे ही परा-सवित् रूपिणी के भेद हैं। भेद से भिन्न-स्वरूपा का बोध नहीं है, जिस प्रकार विद्या से 'विद् ज्ञाने' मात्र का बोध नहीं है अपि च 'विद् लाभे' और 'विद् सत्तायाम्' का भी बोध है, उसी प्रकार भेद से पृथक्ता का ही बोध नहीं है, अपिच मूलैका बहु-स्वरूपत्व का बोध है। यह निर्द्वन्द्वता का बोधक है, न कि द्वन्द्वत्व का। यह अभेद-रूप भेद है, जो असली स्वरूप से पृथक् नहीं है—'अभिन्न-रूपा भिन्नाऽपि स्वरूपान्नैव भिद्यते'। संक्षेप में यह भेद सापेक्षक है। न कि निरपेक्षक। फिर वेद्य ही विद्या है, जिसकी श्रौत परिभाषा है—'यया तदक्षरमधिगम्यते सा विद्या।' ऐसा योग-वासिष्ठ भी कहता है–'यद् वेत्सि तदसौ देव येन वेत्सि तदप्यसौ'—उत्पत्ति प्र० ६।७८।

'विद्या'-पद इस प्रकार बड़ा व्यापक है। प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वस्तु एक परमाणु-पर्यंत विद्या ही है, कारण सभी से एक अद्वितीया परमा सत्ता का बोध होता है। इस प्रकार विश्व की यावतीय वस्तु विद्या ही हैं। इनमें प्रधान वेद आदि अष्टादश हैं। ये सब उसी एक महा-विद्या या महा-वेद्या के प्रकाशात्मक रूप हैं। इसमें सन्देह नहीं—'एकस्तथा सर्व-भूतान्त-रात्मा-रूपं प्रति-रूपो बहिश्च'—कठ। अधिक से क्या जब मही अविद्या भी है जैसा कि श्रुति भी कहती है—'विद्याहमविद्याहम्', तो छोटी-छोटी विद्या भी यही है, तो क्या आश्चर्य वा अयुक्त है।

फिर सभी स्त्रियाँ इसी कला से युक्त इसी के भेद वा स्वरूप हैं। ऐसा शक्ति सङ्गम के निम्न वचन से भी पता चलता है—

नारी त्रैलोक्य-जननी नारी त्रैलोक्य-रूपिणी।
नारी त्रिभुवनाधारा नारी देह-स्वरूपिणी॥

'स्त्री'-पद से यहाँ केवल स्त्री-लिङ्ग-विशिष्ट जीव का ही बोध नहीं है। इससे समस्त शब्द-कारक स्पन्दात्मक पदार्थों का बोध है—'स्त्यै शब्दे-ड्रट उणादि—ङीप्'।

इस प्रकार तात्पर्य यह है कि इस महा-चिति ने विद्या अर्थात् अर्थ-स्वरूप और स्त्री अर्थात् शब्द-स्वरूप में समस्त विश्व को व्याप्त कर रखा है। यही महा-वाक्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का यथार्थ तात्पर्य है। वैसे स्त्री से केवल स्त्री-लिङ्ग-विशिष्ट जीव के तात्पर्य से पुल्लिङ्ग-विशिष्ट जीव अपवाद-ग्रस्त हैं, जिससे ब्रह्म के सर्वत्व में दोष आता है। यह सब होते हुये भी स्थूल-दृष्ट्या भी स्त्रियों की कई एक ऐसी विशिष्टताएँ हैं जिनसे ये पुरुषों की अपेक्षा विशिष्ट कलावती सिद्ध हैं। सर्व-प्रथम विशिष्टता है–'जन्माद्यस्य (विश्वस्य) यतः' अर्थात् सवित्री अर्थात् उत्पन्न करनेवाला यही रूप है, न कि पं-

रूप। फिर स्तन्य-पान कराकर पालन वा स्थिति 'कायम' रखनेवाली भी यही है। पुरुष इसका सहकारी मात्र है। स्त्री-तत्व बड़ा गहन है। इसके ज्ञाता परमहंस रामकृष्णदेव हो गये हैं, जो अपनी विवाहिता स्त्री को भी मातृ-रूप ही समझते थे।

नारी-तत्व, नारी-मन्त्र, नारी-जप, नारी-याग और नारी-तप से बढ़कर कोई तत्व, कोई मन्त्र, कोई जप, कोई योग और कोई तप नहीं है--

'न नारी-सदृशो योगो न नारी-सदृशो जपः।
न नारी-सदृशं मन्त्रं न नारी-सदृशो तपः॥'
--शक्ति-सङ्गम

स्त्री की रुष्टता और तुष्टता से ही देवता रुष्ट वा तुष्ट होते हैं—

स्त्रियस्तुष्टाः स्त्रियो रुष्टास्तुष्टा रुष्टाश्च देवताः।
वर्धयन्ति कुलं तुष्टा नाशयन्त्यपमानिता॥
--वृहत्-पाराशर स्मृति।

'का ते स्तुतिः' का शब्दार्थ है 'क्या तुम्हारी स्तुति है।' ठीक इसी भाव का सूचक कर्पूरादि-स्तोत्र का यह पद्य है--

'धरित्री कोलालं शुचिरपि समीरोऽपि गगनं,
त्वमेका कल्याणी गिरीश-रमणि कालि सकलम्।
स्तुतिः का ते मातः...।'

ऐसा क्यों कहा गया है, यह आगे कहा जाता है। संक्षेप में इससे ऐसा बोध है कि यह स्तुत्य भी है और स्तुति भी है। तब इस अभेदावस्था में स्तुति कैसे हो अर्थात् दूसरी स्तुति तो है नहीं, जिससे स्तवन वा गुण-गान हो। इससे स्तुत्य का निर्गुणत्व सिद्ध है और साथ ही वागगोचरत्व भी सिद्ध है, जैसा आगे कहा जाता है। यद्वा मुख्य गौण संकीर्तन का नाम स्तुति है। यह तुम सर्व-स्वरूपा में गौण शक्ति के अभाव-वशतः स्तुति असम्भव है। 'वेद-वाक्यरवेद्यस्य कुतः स्तोत्रं विधायते'--शङ्कराचार्य।

'स्तव्य परापरोक्तिः'--इस पद के एकाधिक अर्थ हैं। 'स्तव्य-परा च उक्तेः परा च' ऐसा भी रूप हो सकता है और यह पद स्तुति का विशेषण भी हो सकता है अर्थात् स्तव्य (तुम्हारी) परा और अपरा उक्ति-रूपिणी स्तुति। संक्षेप में इस पद से ऐसा बोध है कि यह स्तवन-योग्यावस्था से परे है अर्थात् अनाख्यावस्थावाली होने से स्तव्य-परा है और उक्ति अर्थात् वचन से परा है। अर्थात् इसके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता। यद्वा यह स्वयं परा-वाक्-स्वरूपिणी है और अपरा-वाक् अर्थात् पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाक्-स्वरूपिणी है। इस अवस्था में अन्य वाक् के अभाव-वशतः इसकी स्तुति किस प्रकार हो? इसी कारण कर्पूरादि स्तोत्र में 'वदामस्ते किं वा—' उक्त है। फिर 'सकलमपि किं स्तौमि भवतीं' जैसी उक्ति है। अतएव स्तुति की परिभाषा श्रुति में है 'मौनं स्तुतिः'—मण्डल ब्राह्मण। इस मौन से उपसहार चिन्तन का बोध है, जैसा कि श्रुति कहती है—'परा-पश्यन्त्यादि-निखिल-शब्दानां नाद-द्वारा ब्रह्मणि उपसंहार-चिन्तनेन स्तोत्रम्'--भावनोपनिषत्।

आओ शाक्त बन्धु! हम भी मौन होकर 'मा' में सब शब्दों का लय कर स्तुति करना सीखें।

सर्व-भूता यदा देवी स्वर्ग-मुक्ति-प्रदायिनी।
त्वं स्तुता स्तुतये का वा भवन्तु परमोक्तयः॥७॥

टीका—जब तुम सर्व-स्वरूपा होती हुई ईश्वरी (के रूप में) स्वर्ग और मुक्ति देनेवाली हो, ऐसी स्तुता होने पर (इससे) अधिक क्या कहा जाय अर्थात् अधिक नहीं कहा जा सकता। यद्वा जब तुम परमा सर्व-भूतान्तरात्मा ब्रह्म-रूपिणी स्वर्ग-मुक्ति

देनेवाला देवो ईश्वरा कहा गई हो, तो सभी उक्तियाँ तुम्हारी ही स्तुति की हेतु हों।

व्याख्या—'सर्व-भूता' से निर्द्वन्द्वा विश्व-रूपा का बोध है। यही लक्षण ब्रह्म का अर्थात् निर्गुणात्मिका परमा सर्व-व्यापिनी सत्ता का है। इस पद्य में भगवती महा-चिति के सर्व-मयत्व-रूप में स्तुति-समर्थन है। इसको त्रिगुणात्मिका मानकर और स्वर्ग अर्थात् अर्थ, धर्म काम और मोक्ष देनेवाली सत्ता में ले आकर स्तुति की भूमिका बाँधी गई है, कारण इसी सगुणात्मक रूप में स्तुति सुकर है।

'देवो' से यहाँ ईश्वरी अर्थात् स्वामी-भावमापन्ना माया-नियन्त्री सत्ता का बोध है। ईश्वरी से तात्पर्य है धर्मी शक्ति की वह विशिष्ट धर्म-शक्ति, जिससे यह अपनी सिसृक्षा-वश माया का नियन्त्रण करती है—'निर्गुणाऽपि परमात्म-शक्तिः माया-नियन्तृतया सिसृक्षा-वशादाविष्कृतेश्वर-भावः।'

'स्वर्ग-मुक्ति-प्रदायिनी' वा स्वर्गापवर्ग-दायिनी से व्यवसायात्मिका और अव्यवसायात्मिका बुद्धि-दात्री है, ऐसा बोध है। जो इसको जिस रूप में भजता है, उसको यह वैसी ही बुद्धि देती है, जिससे ईप्सित फल मिलता है। गीता कहती है—'ददामि बुद्धि-योगं तं येन मामुपयान्ति ते'। पुनः यही कहती है—'लभते च ततः कामान् मयैव विहिता हितान्। देवान् (स्वर्ग) देव यजो यान्ति मद्-भक्ता यान्ति मामपि ॥'

तात्पर्य कि सब कुछ यही है अर्थात् द्रष्ट्री भी है, भोक्त्री भी है, निर्गुणा भी है, सगुणा भी है। इस अवस्था में 'परमोक्ति' हो ही नहीं सकती। यद्वा जो कुछ भी कहा जाता है, सब तुम्हारी ही स्तुति-स्वरूप है। इस भाव में प्रमाद-वश अविहित स्तुति की मार्जनोक्ति का तात्पर्य है।

यह तो सर्व-विदित है कि भक्ति साधक को मुखर अर्थात् भाव प्रकट करने को बाध्य कर ही देती है। इसमें अज्ञान-वश अनुपयुक्त उक्ति का समावेश अवश्यम्भावी है, जिसके लिये क्षमा-प्रार्थना की आवश्यकता होती है। ऐसी प्रार्थना प्रायः सभी स्तुतियों में समाविष्ट है। यथा कर्पूरादि स्तोत्र के 'तथापि त्वद्-भक्तिर्मुखरयति चास्माकमसिते! तदेतत् क्षन्तव्यं न खलु पशु-रोषः समुचितः' इस पद से बोध है।

सर्वस्य बुद्धि-रूपेण जनस्य हृदि संस्थिते।
स्वर्गापवर्गदे देवि नारायणि! नमोऽस्तु ते ॥ ८ ॥

टीका—हे देवि नारायणि! सब जनों के अन्तःस्थल में बुद्धि-रूपिणी होकर अवस्थान करनेवाली (रहनेवाली) स्वर्ग और अपवर्ग अर्थात् मोक्ष देनेवाली तुमको प्रणाम।

व्याख्या—'देवि नारायणि' पद से एकाधिक तात्पर्यों का बोध है। 'देवी'-पद के सदृश 'नारायणी' पद भी अनेकार्थ-वाचक है। यहाँ 'देवी' से चिति-शक्ति का और 'नारायणी' पद से सर्व-व्यापिनी सत्ता का बोध है—'नराणां समूहो नारः तदयनं स्वाधिष्ठान-भूमिः यस्याः।' यद्वा इससे विशिष्ट ज्ञान से ज्ञात होनेवाली परमा सत्ता का बोध है, जब कि नार का अर्थ विज्ञान है—'नारं विज्ञानं तत अयनं आधारो यस्याः सा नारायणी।'

'जन' पद भी अनेकार्थ-वाचक है। जन से मनुष्य, विश्व, विश्व का अंश जन-लोक, सृष्ट आदि का बोध है। यहाँ विश्व के भूतों का बोध है। इस प्रकार सर्व-भूत के हृद्देश में अवस्थित है, ऐसा बोध है, जैसा कि गीता भी कहती है—'ईश्वरः सर्व-भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' योग-वाशिष्ठ इस भाव

को इन शब्दों में व्यक्त करता है--'परमाकं-वपु-भूँत्वा प्रकाशान्तं विसारयन्। त्रिजगत त्रसरेण्वोघं शान्तमेवावतिष्ठते ॥' उत्पत्ति प्र० ६।२२। फिर यही इसके सम्बन्ध में स्पष्टतया कहता है-'एष देवः कथितो नैष दूरेऽवतिष्ठते। शरीरे संस्थितो नित्यं चिन्मात्रमिति विश्रुतः' ॥--उ० प्र० ७।२। इस भाव का प्रतिपादन ब्रह्म-सूत्र 'अन्तस्तद्-धर्मोपदेशात्' से करता है। श्रुति भी तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' आदि वाक्यों में ऐसा कहती है। इससे अन्तरात्मा का बोध है।

'हृदि' का शब्दार्थ है हृदय में। हृदय के दो शब्दार्थ हैं। एक तो यह है कि जो विषय अर्थात् वासनाओं से हर लिया गया है--

'हृदिति ह्रियते विषय-वासना-जालैरिति हृदयं-अन्तःकरणम्'।

दूसरा अर्थ है कि जो विषयों को हरण करता है 'हरति विषयान् इति हृदयम्'। पूर्व से मलिन वा अशुद्ध अन्तःकरण का और पर से शुद्ध अन्तःकरण का बोध है। योग-वाशिष्ठ भी कहता है-'साधो जगति भूतानां हृदयं द्विविधं स्मृतम् ॥ उपादेयं च हेयं च विभागोऽयं तयोः शृणु ॥'—उपशम प्रकरण ७८।३३। संक्षेप में 'हृदि' पद का अन्तस्तात्पर्य है हृत्पुण्डरीक वा अन्तराकाश। इसका एक अपना अधिकरण है। ब्रह्म-सूत्र में जिसको दहराधिकरण कहते हैं। विशद ज्ञान के हेतु ब्रह्म-सूत्र का शक्ति-भाष्य द्रष्टव्य है।

'बुद्धि-रूपेण' बुद्धि-रूप से। इसका उल्लेख पूर्व ही पाँचवें अध्याय में इन शब्दों में हो चुका है--'या देवी सर्व-भूतेषु बुद्धि-रूपेण संस्थिता'। अस्तु, बुद्धि उसी का नाम है, जिससे अर्थात् जिस शक्ति-द्वारा किसी वस्तु का बोध वा ज्ञान होता है-'बुद्ध्यते अनया इति बुद्धिः।' इसकी तान्त्रिक संज्ञा है विमर्श-शक्ति। यही मुक्ति और बन्धन का कारण है। इसी को प्रेरिका शक्ति वा काली 'कलयति प्रेरयति इति काली' भी कहते हैं।

'संस्थिता' का शब्दार्थ है सम्यक् प्रकार से अर्थात् भले प्रकार से स्थिता रही हुई। यह इस एक को सर्ग-रूप शृङ्खला-क्रम से अवस्थिति का द्योतक पद है। इसे आंग्ल भाषा में 'ला आफ़ यूनिफ़ार्मेटी' कहते हैं। 'गत्यर्थात् कर्म कश्लिष् शीङ् स्थासेत्यादिना सम्पूर्वान्तिष्ठतेः क्तः'।

'स्वर्गापवर्गदा' अर्थात् स्वर्ग और अपवर्ग अर्थात मोक्ष देनेवाली। वैसे तो पूर्व पद्य में इस लक्षण का उल्लेख रहने से यहाँ पुनरुक्ति है परन्तु जहाँ 'मुक्ति'-पद नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की मुक्ति का वाचक है, वहाँ अपवर्ग कैवल्य-मुक्ति वा नित्य-मुक्ति-वाचक पद ही है। स्वर्ग से क्षयिष्णु वा अनित्य सुख का बोध है, जैसा कि श्रुति कहती है—'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं यत् तत् सुखं स्वः--पदास्पदम्।'

'ते नमः अस्तु' अर्थात् तुम्हारा (तुझमें) नमन वा प्रणाम हो। ये नमन वा नमस्कार दो प्रकार के हैं। एक अभिवादन-रूप द्वैत-भाव का और दूसरा अद्वैत-भावाश्रित तादात्म्य-सूचक। तात्पर्य दोनों का एक ही है। भेद इतना ही है कि जहाँ द्वैत-भाव में आंशिक प्रपन्नता है, वहाँ अद्वैत भाव में ज्ञान-जन्य पूर्ण प्रपन्नता के कारण विषयों से परावर्तन कर एक अपने इष्ट में प्रवणता-रूप प्रणाम है। श्रौत अर्थ इसका है 'सोऽहं भाव।' सोऽहं भावो नमस्कारः'—मण्डल ब्राह्मण। शङ्कराचार्य के शब्दों में प्रणाम को संवेश अर्थात् सम्यक् प्रकार से एक हो जाना कह सकते हैं—'प्रणामः सम्वेशः।'

आओ शाक्त वन्धु ! हम भी सम्यक प्रकार से प्रपन्न होकर 'मा' को नमस्कार करना सीखें। मनसा

कर्मणा वाचा (मन से, कर्म से और वचन से) प्रणाम ही असल प्रणाम है अन्यथा यह क्रिया आडम्बर मात्र है।

कला-काष्ठादि-रूपेण परिणाम-प्रदायिनि।
विश्वस्योपरतौ शक्ते नारायणि नमोऽस्तु ते ॥६॥

टीका—हे कला और काष्ठा आदि रूपों से (विश्व का) परिणाम अर्थात् अन्त फल देनेवाली, हे विश्व की अवसान-कालिक शक्ति नारायणी, तुमको प्रणाम।

व्याख्या—इस पद्य में सर्व-व्यापिनी निर्द्वन्द्वा अपरिच्छिन्ना मूला-शक्ति को परिच्छिन्न करनेवाली और विश्व-लय-कारिणी के रूप का प्रतिपादन है।

'कला' नाम आधुनिक काल वा समय-विभाजक 'सेकेण्ड' 'मिनट' आदि के सदृश प्राचीन काल-विभाग का है। 'तीस निमेष की एक 'कला' होती है। 'काष्ठा' इससे भी छोटे विभाग का नाम है, कारण यह अट्ठारह ही निमेषों की होती है। इस प्रकार 'कला' और 'काष्ठा' इन पद-द्वय से त्रिंशन्निमेषात्मक और अष्टादश-निमेषात्मक परिच्छिन्न काल-द्वय का बोध है। आदि से क्षण, मुहूर्त्त, होरा, पक्ष, मास, ऋतु, सम्वत्सर आदि परिच्छिन्न कालों का बोध है। इन्हीं के अनुसार विश्व की सभी वस्तुओं के परिणाम वा अन्त (अन्त से आयु व स्थिति-काल का बोध है) और फल दीखने में आते हैं। तात्पर्य कि यह काल-शक्ति अर्थात् काल की प्रेरिका शक्ति (महाकाली) इन कल्पित समयांशों अर्थात् परिच्छिन्न वा सीमित काल के रूपों के परिमाणों में प्रत्येक वस्तु का पर्यवसान-फल दिखाती रहती है, जिससे इसके संसृति-क्रम में व्यत्यास नहीं आ सकता और जगत् संसार कहलाता है अर्थात् सम्यक् प्रकार से अर्थात् शृङ्खला-बद्ध होकर सरण करता है (चलता है)। इस सत्ता की योग-वासिष्ठी संज्ञा है नियति, जिसकी परिभाषा है—

कालेने नर्त्तकेनैव क्रमेण परिशिक्षिताः।
यैषा परपराभासा सैषा नियतिरुच्यते।
आमहा-रुद्र-पर्यन्तमिदमित्थमिति स्थितेः।
आ-तृण-पद्मज-स्पन्दं नियमान्नियतिः स्मृता ॥

—निर्वाण प्र० उ० ३७ सर्ग।

यद्वा कला 'कलयतीति कला' अर्थात् कलन करनेवाली से सृजन, संहरण, प्रेरणा आदि शक्तियों का बोध है। इस प्रकार विविध शक्ति और काष्ठा अर्थात् चरम धर्मी-शक्ति के रूप में जैसा श्रुति कहती है—'सा काष्ठा सा परा गतिः।' यह परिणाम को प्रकृष्ट रूप से देनेवाली है, ऐसा बोध है।

यद्वा 'कला'-पद से जहाँ काल-शक्ति का बोध है, वहाँ 'काष्ठा' से दिक्-शक्ति का बोध है—'गगनात्मकस्य भीम-नामकस्य सदाशिवस्य पत्नी स्वर्गमाता देवी दिक्-स्वरूपत्वात् काष्ठेत्युच्यते।' इस प्रकार मुख्य धर्म-शक्ति-द्वय काल-शक्ति और दिक्-शक्ति और 'आदि'-पद से सूचित अप्रधान शक्ति-समूह के रूप में यही एक परिणाम-प्रदायिनी है, ऐसा बोध है।

'विश्वस्योपरतौ' शक्ति से महा-प्रलय करनेवाली रौद्री-शक्ति यद्वा योग-वाशिष्ठ आदि ग्रन्थ-प्रसिद्धा कालरात्रि और तन्त्रशास्त्र-प्रसिद्धा काली का बोध है। इसी को कार्ष्णी महाशक्ति कह सकते हैं—'कर्षणात् कृष्णा।' संक्षेप में इससे प्रलय करनेवाली सत्ता और प्रलय के पश्चात् जो नित्या अपरिणामिनी सत्ता रह जाती है, इन दोनों का बोध है।

यह उसी महाशक्ति आद्या का द्योतक है, जिसका प्रतिपादन सुधाधारा-स्तव में इस प्रकार किया गया है—'यदा नैव धाता न विष्णुर्न रुद्रो न कालो न वा पञ्च-भूतानिला सा। तदाकारिणी भूत-सत्त्वैक-मूर्तिः त्वमेका पर-ब्रह्म-रूपेण सिद्धा ॥'

ऐसी द्विरूपा* महासत्ता-अर्थात् काल वा कला-सत्ता ※ रूपिणी जिससे घटता, पटता, त्वत्ता, मत्ता आदि कहलानेवाली नानाकृति होती हैं और विलीन होती हैं और महासत्ता-रूपिणी नारायणी अर्थात् प्रत्येक नर वा जीव में रहनेवाली को नमस्कार हो। इस भाव की नमन-क्रिया से ही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के ज्ञान का परिचय है।

सर्व-मङ्गल-माङ्गल्ये शिवे सर्वार्थ-साधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१०॥

टीका—हे सब मङ्गलों वा कल्याणों की कल्याण करनेवाली हे शिवे! सब कार्यों की करनेवाली! हे आश्रयणीया! हे त्रिनयना! हे गौरी! हे नारायणी! तुमको प्रणाम हो।

व्याख्या—मङ्गल 'मङ्गन्ति मंग्यन्ते वा मङ्गलानि' अनेकार्थ-वाचक पद है। 'मगि' धातु का, जिससे 'अलच् उणादि' युक्त कर 'मङ्गल'-पद बनता है, प्रयोग गमन-क्रिया, समर्पण क्रिया आदि में है। इस 'सर्व-मङ्गल-मङ्गल्ये' पद में एकाधिक समास भी हैं। 'सर्वेषां मङ्गलानां मङ्गल्या' यद्वा 'सर्वेभ्यो मङ्गलेभ्यो मङ्गल्या' यद्वा 'सर्व-मङ्गला चासौ मङ्गल्या' (पुं-वत् कर्मधारय)।

अस्तु, संक्षेप में इस पद से ऐसा बोध है कि सब प्रकार से कल्याण करनेवाली होने के कारण यह मङ्गल्या अर्थात् रुचिरा है। यद्वा जितने कल्याण-कारक पदार्थ हैं, उन सभी का मङ्गल-विधान करनेवाली। यद्वा 'सर्व'-नाम शिव का है। इस प्रकार शिव को भी कल्याण-विधायिनी सत्ता यही है अर्थात् शिव के शिवत्व का कारण है ऐसा बोध है। यद्वा 'सर्व' से सर्वावस्था यद्वा सर्व-रूपों के बोध से ऐसा अर्थ है कि सभी अवस्थाओं में और सभी रूपों में यही एक मङ्गल वा भलाई ही करनेवाली है। इसी प्रकार के बोध से जीवों का यह सर्वार्थ-साधन करती है।

'शिवा' पद भी अनेकार्थ-वाचक है। साधारण शब्दार्थ है शिव की स्त्री। अब शिव 'शाम्यतीति शिवः' की परिभाषा ये हैं—'समा भवन्ति मे सर्वे दानवाश्चामराश्च ये। शिवं करोऽस्मि भूतानां शिवत्वं तेन मे सुराः'—भारत। 'समेधयति य नित्यं सर्वार्थानुपक्रमम्। शिवेति यन्मनुष्याणां तस्मादेव शिव स्मृतः।' फिर योग-वाशिष्ठी + परिभाषा है 'चिन्मयः परमाकाश य एव कथितो मया। एषोऽसौ शिव इत्युक्तो भवत्येष सनातनः ॥'—निर्वाण प्र० उ० ८२।२०। अतएव उक्त लक्षणों से लक्षित शिव की सह-धर्मिणी 'शिवा' है, ऐसा बोध है। यद्वा 'शिवा' का अर्थ है मुक्ति-दायिनी जैसा देवी-पुराण

---

* योगवासिष्ठ कहता है—'द्वे रूपे तत्र सत्ताया एकं नानाकृति-स्थितम्। द्वितोयमेक-रूपं तु विभागोऽयं तयोः शृणु ॥'

※ 'काल-सत्ता कला-सत्ता वस्तुसत्तेयमत्यपि। विभाग-कलनां त्यक्त्वा सन्मात्रकै-परो भव' ॥ योगवासिष्ठ उपशम प्र० ६१।१०५।

+ इसका स्पष्टीकरण योग-वाशिष्ठ ने इन शब्दों में पूर्व ही किया है—'शिवः सर्व-पदातीतः सर्व-सङ्कल्पनातिगः। सर्व-सङ्कल्प-वलितो न सर्वो न च सर्वकः ॥ दिक्कालाद्यनवच्छिन्नः सर्वारम्भ प्रकाश-कृत। चिन्मात्र-मूर्त्तिरमलो देव इत्युच्यते मुने ॥'—निर्वाण प्र० उ० ३०।१२।

कहना है—'शिवा मुक्तिः समाख्याता तत प्रदत्वात शिवा स्मृता।' यद्वा 'शिवाः शोभना गुणा अस्यां सन्ति सा शिवा।' यद्वा इससे इच्छा और वशिनी-शक्ति-द्वय का भी बोध है—'वश कान्ती शिवः स्मृतः कान्तिरिच्छा।' यद्वा परमात्म-रूपिणी का बोध है—'परमात्मा शिवः प्रोक्तः शिवा सैव प्रकीर्तिता।' यद्वा शिवा-गण अर्थात् फेरवी-गण से वेष्टिता का बोध है—'शिवाः फेरवः सन्त्यस्याः गण-त्वेन।' यद्वा शिव इससे अभिन्न है भर्तृत्व-रूप में—'शिवो रुद्रोऽस्ति भर्तृत्वेनेति शिवा।'

'सर्वार्थ-साधिका' का शब्दार्थ है सब अर्थों की अर्थात् चारों अर्थों अर्थात् पुरुषार्थों की साधन करनेवाली। देवी-भागवतोक्त परिभाषा है—'धर्मादींश्चिन्तितानर्थान् सर्व-लोकेषु यच्छति। अतो देवी समाख्याता सर्वैः सर्वार्थ-साधिनी॥' संक्षेप में इस लक्षण से बोध है कि यह भोग और मोक्ष दोनों देनेवाली है। इसी हेतु यही एक शरण्या अर्थात् शरण लेने योग्य है।

'शरण्या' लक्षण का कारण पूर्व-लक्षण से व्यक्त है। इसके अतिरिक्त और है ही कौन, जिसके शरण हम अज्ञ जन जायँ। लौकिक व्यवहार-रूप से भी एक मातृ-क्रोड़ ही हम अज्ञों के निमित्त भी शरण्य स्थान है, कारण कि यहाँ किसी प्रकार की विषमता नहीं है। हम धर्म न जाननेवालों का धर्म रक्षक नहीं हो सकता, जिससे हमारी रक्षा हो। हमको तो अपने दुष्कृत्यों का सर्वदा भय बना रहता है। यह स्मृता अर्थात् नाम लेने से ही रक्षा करती है। इसी हेतु यही एक शरण्या है—'विषाग्नि-भय-घोरेषु शरण्यां स्मरणाद्यतः। शरण्या तेन सा देवी मुनिभिः परिकीर्तिता'॥—देवीपुराण

'त्र्यम्बका' पद अनेकार्थ—स्थलार्थ और सूक्ष्मार्थ दोनों वाचक है (इसकी विशद व्याख्या 'श्री तारा-स्वरूप-तत्व' में देखिये)। यहाँ इतना ही उल्लेख करना पर्याप्त है कि साधारणतया इस पद से तीन आँखवाली और तीन व्यक्ति की अम्बा का बोध है। तीन आंखवाली से भूत, भविष्य और वर्तमान की साक्षिणी और तीन व्यक्तियों ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को अम्बिका अर्थात माता है। इस प्रकार इच्छा-शक्ति-बोधक ब्रह्मा, ज्ञान-शक्ति-बोधक विष्णु और क्रिया-शक्ति-बोधक रुद्र—इनकी माता अर्थात् धर्मी शक्ति यह है, ऐसा बोध है। इस भाव से त्रिगुणों की जननी आद्या-शक्ति का बोध होता है।

'गौरा'-पद का शब्दार्थ है गौर वर्णवाली परन्तु इसका अन्तस्तात्पर्य है सर्व-शास्त्रोक्त ब्रह्म वा परमा सत्ता के परम प्रकाश-मय 'रवि-तुल्य रूप' (श्रुति) आदित-वर्ण (गीता) रूप वर्ण का। इसी रूप का तन्त्रशास्त्रों में उल्लेख है इन शब्दों में—कोटि-सूर्य-प्रतीकाशा कोटि-चन्द्र-निभानना।'

यद्वा यह 'गौरी'-पद 'गुरी' धातु से बना है और उद्यमन में प्रयोग होता है। इसी प्रकार मन जिसमें उद्युक्त अर्थात् आकृष्ट हो, वह गौरी है—गुरते उद्युंक्ते मनोऽस्मिन्निति गौरः—ङीप् (गौरादित्वात्)।'

फिर योग-वासिष्ठ के कथनानुसार दृश्य के आभास से तद्-वत् क्रिया का बोध है—'दृश्याभासानुभूतानां करणात् सोच्यते क्रिया'। इसी आधार पर गौरी की योग-वाशिष्ठी परिभाषा है—'गौरी गौरांग-देहत्वाद् भव-देहानुषंगिणी।'—निर्वाण प्र० उ० ८४।१३। अब देखना है कि परस्पन्दैक-रूपिणी क्रिया भगवती इस वर्ण को धारण कर क्या करती है अर्थात् शुक्ल वर्ण का क्या गुण है।

इसका उल्लेख हमको श्रुति (पञ्च-ब्रह्मोपनि-

षत्) में ऐसा प्राप्त है--'वर्ण-शुक्लं तमोमिश्र पूर्ण-बोध-करं स्वयम्। धाम-त्रय-नियन्तारं धाम-त्रय-समन्वितम् ॥ सर्व-सौभाग्यदं नृणां सर्व-कर्म-फल-प्रदम्। अष्टाक्षर-समायुक्तमष्ट-पत्रान्तर-स्थितम् ॥ यत्तत् पुरुषं प्रोक्तं वायु-मण्डले संवृतम्। पञ्चाग्निना समायुक्तं मन्त्र-शक्ति-नियामकम् ॥ पञ्चाशत्-स्वर वर्णाख्यमथर्व-वेद-स्वरूपकम्।'

आओ शाक्त-बन्धु ! हम नर-नर (घट-घट) में रहनेवाली माता नारायणी की इन लक्षणाओं द्वारा मनन करते हुये नमन करना सीखें, कारण केवल मन्त्र पढ़ लेने ही से काम नहीं चलता है। अतएव आवश्यकता है मन्त्रार्थ जानने की।

सृष्टि-स्थिति-विनाशानां शक्ति-भूते सनातनि।
गुणाश्रये गुण-मये नारायणि नमोऽस्तु ते ।।११।।

टीका--हे नित्या सृष्टि-स्थिति-लय-कारिणी शक्ति ! हे गुणों के आश्रय गुण-मयी नारायणी ! तुमको प्रणाम।

व्याख्या--सनातनी वा सनातना पद नित्यार्थ-बोधक है--'सनेत्यव्ययं नित्यार्थकम्। सना भाव इति सनातना'। इससे अपरिणामिनी सत्ता वा महा-सत्ता का बोध है। जिसका प्रलय दशा में नाम-रूप नहीं रहता है, उसी को अनित्य कहते हैं और जिसका नाम और रूप रहता है, वही नित्य है।

सृष्टि आदि शक्तियों की भूति है। इससे इन त्रि-शक्तियों की धर्मी शक्ति है, ऐसा बोध है। तात्पर्य कि ये तीनों शक्तियाँ इसी एक की हैं अर्थात् यही ब्राह्मी है, जिससे सृजन क्रिया है; यही वैष्णवी है, जिससे पालन वा स्थिति-क्रिया है और यही रौद्री है, जिससे संहरण-क्रिया है। 'विनाश' पद का अर्थ है विकल्प रीति से नाश, कारण किसी पदार्थ-सत्ता वा चिति-शक्ति का नाश नहीं होता है। हम रूपान्तर को ही नाश कहते हैं, यह दूसरी बात है। अस्तु, इस लक्षणा से यही बोध है कि सृष्टि और स्थिति इस परा-शक्ति के सम्वेदन मात्र हैं और विनाश असम्वेदन है--'तस्या शक्तेः परायास्तु स्व-सम्वेदन-मात्रकम्' योग-वासिष्ठ। अन्य शब्दों में ऐसा भी कह सकते है कि परा-शक्ति लीलार्थ स्वयं उदित होती है और अस्त को जाती है--'रूपा-वलोकनमनोमनन प्रकाराकारास्पदं स्वयमुदेति त्रिलीयते च'--योग-वासिष्ठ। तात्पर्य कि यह जगत की न सृष्टि करती है, न पालन करती है और न संहार करती है।

यह अपने को जगत-रूप में प्रकट करती है जैसा श्रुति-वाक्य है--'एकोऽहं बहु-स्याम्।' योग-वासिष्ठ कहता है--'स्वयं भवति रागात्मा रंजको रञ्जनं रजः'। इसी हेतु यही पुनः पुनः कहता है--'यदिदं दृश्यते राम तद् ब्रह्मव जगादत्येतत् सर्व सत्वावबाधतः।' यह सृष्टि वा सर्गता ब्रह्म का विराडात्मत्व ही है--'ब्रह्मैवाद्यो विराडात्मा विराडात्मैव सर्गता'--योग-वाशिष्ठ। स्थिति भी अपनी ही अर्थात् लीलात्मक स्वरूप की करती है और फिर विश्रामार्थ अपने नानाकारत्व का अपने में ही संहरण अर्थात् सीमित कर वा संकुचित कर विनाश-क्रिया करती है। यह भी इसकी स्थिति है परन्तु यह स्थिति है स्वरूप-स्थिति, जिसका नाम प्रलय है--'अनन्त-शक्तिकस्य ब्रह्मणः' अर्थात् धर्मी शक्तिकस्य स्वरूप-मात्रेण कश्चित् कालमवस्थानम्।' इसी से ऐसा कहा गया है--'जायते नश्यते तथा यदिदं याति तिष्ठति तदिदं ब्रह्मणि ब्रह्म ब्रह्मणा न विवर्तते।'

--योगवाशिष्ठ।

'गुणाश्रया' पद के एकाधिक अर्थ हैं। शब्दार्थ वा वाच्यार्थ भी एकाधिक हैं। गुण ही आश्रय

जिसके हैं, वह। फिर गुणों का आश्रय-भूता जो है, वह। फिर इससे निर्गुणा का बोध है, जो अर्थ यहाँ उपयुक्त भी है। इस भाव में इस पद का ऐसा रूप है-'गुण-अ-श्रयः न श्रयः, अश्रयः, गुणानां न श्रयः यस्याः सा गुणाश्रया'। इस प्रकार चिद्-रूपतया निर्गुणत्व भाव का बोध है।

तात्पर्य कि निर्गुणा होकर भी गुण-मयी अर्थात् सगुणा है, ऐसा बोध है। इससे इसका अप्रतर्क्यत्व सिद्ध है।

गुण-मयी का एक अर्थ और भी है। 'मय गतौ' के भाव में 'मयते गच्छति प्रकटयति जगति इति मया' अर्थात् विश्व में गुण के रूप में अपने को जो प्रकट वा व्यक्त करती है। यद्वा गुण-त्रय-स्वरूपा भी अर्थ है। यद्वा सांख्य-मत से साधर्म्य और वैधर्म्य गुणों से युक्ता। यद्वा 'गुण'-नाम व्यूह वा चक्र का है इस भाव में व्यूहात्मिका वा चक्रात्मिका है, ऐसा बोध है 'नव-व्यूहात्मको* देवः परानन्दः परात्मकः'। यद्वा 'गुण'-नाम रज्जु (रस्सी) का भी है। लक्षणाओं से नौका बाँधनेवाली रस्सी के तात्पर्य से ऐसा बोध है कि जीव की भव-सागर पार करनेवाली नौका की रस्सी अर्थात् अवलम्ब स्वरूपा है।

शरणागत-दीनार्त्त-परित्राण-परायणे।
सर्वस्यार्त्ति-हरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१२॥

टीका--हे शरण में आये हुओं की, दीनों की और आर्त्तों की सब प्रकार से रक्षा करने में पटु और सबकी आर्त्ति अर्थात् पीड़ा हरनेवाली ईश्वरी नारायणी, तुमको प्रणाम हो।

व्याख्या--इस पद्य में साधारणतया सभी जीवों के कष्ट हरनेवाली होने पर भी विशेषतया शरण में आये हुओं की, दीनों की और आर्त्तों की रक्षा सब प्रकार से करनेवाली है, ऐसा कहा गया है। यद्वा शरण में आये हुये दीन और आर्त्त के परित्राण में परायण वा पटु है ऐसा भी बोध होता है। तात्पर्य कि दीन और आर्त-द्वय लक्षणाओं से युक्त शरणागत की परित्राण-परायणा है।

'शरणागत' पद से किञ्चित्-कालिक और आंशिक भाव से शरणागत का बोध नहीं है। यह पद अनन्य भाव से रक्षार्थ 'शरणं गृह-रक्षित्रोरिति अमर-कोषः' आगत का बोधक है। इसके सम्बन्ध में पूर्व तीसरे पद्य की व्याख्या में लिखा जा चुका है। अतएव यहाँ और उल्लेख अनुपयुक्त है।

'दीन' पद से बुभुक्षित (भूखे), रङ्क (कंगाल) का बोध नहीं है, जैसा इसका वाच्यार्थ है-'दीयन्ते क्षीयन्ते अन्नाद्यभावेन इति दीना बुभुक्षिता रङ्काः।' दीन से अन्तस्तात्पर्य है अहं-भाव वा अहङ्कार वा मद से रहित। हम दर्प वा मद-रहित होने पर ही माता की कृपा के अधिकारी हैं अन्यथा नहीं।

'आर्त्त' पद से कृत्रिम आर्त्त का नहीं, वरन् अकृत्रिम वा यथार्थ आर्त का बोध है। यदि हम अपने को अकारण अथवा अनावश्यक वस्तु के हेतु आर्त वा व्याकुल बना आर्त्ति-हारिणी की कृपा चाहेंगे, तो यह व्यर्थ है। हमारी आर्त्ति की यथार्थता वही समझती है। अतएव यदि हमारे कल्पित दुःखों को वह न हरे, तो हमको इस पर अपनी करुणामयी माता के करुणा-मयत्व पर आक्षेप नहीं करना चाहिये।

'परायणा' पद का साधारण अर्थ है पटु परञ्च इस पद के इस प्रकार विच्छेद-'परं अयनं उद्देश्यं

---

* नवव्यूहों के नाम ये हैं--काल, कुल, नाम, ज्ञान, चित्त, नाद, विन्दु, कल्प और जीव।

यस्याः' से ऐसा तात्पर्य है कि इसका मुख्य उद्देश्य परित्राण ही है।

'सर्वस्य' पद से भक्तातिरिक्त जनों का तात्पर्य है। इसी से कहा गया है- वैरिष्वपि प्रकटितैव दया त्वयोत्थम्।' तात्पर्य कि जो शरण में नहीं भी आया है वा आता है, उसकी भी परमार्ति हरनेवाली है! इसके उदाहरण महिषासुर आदि अनेक हैं।

हंस-युक्त-विमानस्थे ब्रह्माणी-रूप-धारिणि।
कौशांभः क्षरिके देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१३॥

टीका—हे हंसों के विमान पर बैठनेवाली ब्राह्मी-स्वरूपा कुशाओं से जल छिड़कनेवाली शक्ति-रूपिणी नारायणी! तुमको प्रणाम हो।

व्याख्या—अब भगवती का ब्रह्माणी आदि सप्त-शक्ति-स्वरूपिणी होना अर्थात् धर्मी और धर्म-शक्ति के अभेदत्व का प्रतिपादन है। ब्रह्माणी आदि इसी महा-चिति की विभूतियाँ हैं, जैसा इसने स्वय कहा है—'अहं विभूत्या बहुभिरिह रूपैर्यदा स्थिता'। ये इसी एक महा-चिति अग्नि-रूपिणी की भिन्नाभिन्न विविध (स्फुलिङ्ग) चिनगारियां हैं। ये हम व्यष्टि में भी हैं। अतः इनका ज्ञान हमको आवश्यक है, ताकि हम भी इनकी उपयोगिता सीखकर व्यष्टि-स्थित वा स्व-स्थित शुम्भादि आसुरी सर्गों का विनाश करने में समर्थ हों। यहाँ लिखना अयुक्त नहीं होगा कि देवी-माहात्म्य पढ़ लेने मात्र से उद्देश्य की पूर्ण सिद्धि नहीं है। असल तात्पर्य है इस माहात्म्य के मनन से और निदिध्यास से अर्थात् जैसा समष्टि में हुई भी, हो रही है और होगी, वैसी ही हम भी अपने में महा-चिति को चैतन्य कर शुम्भादि असुरों से अपनी रक्षा करें।

अस्तु, ब्रह्माणी से शुद्ध मानसिक शक्ति का बोध है। इस शक्ति का वाहन अर्थात् जवीयता का साधन हंस है। इस हंस से प्राण-वायु का बोध है और इसका आयुध है कुशा, जिससे जल छिड़कती है। संक्षेप में कुश 'कु कुत्सित (बुरा)-शो हनने—अच्' का अर्थ है बुरे (भाव) को दूर करनेवाला यन्त्र, जो आत्म-शुष्कता को दूर कर जल सिंचन कर आर्द्र करता है ताकि ब्रह्म-बीज बोया जा सके।

त्रिशूल-चन्द्राहि-धरे महावृषभ-वाहिनि।
माहेश्वरी-स्वरूपेण नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१४॥

टीका—हे त्रिशूल चन्द्र और नाग-धारिणी श्रेष्ठ बैल की सवारी करनेवाली माहेश्वरी-स्वरूपा नारायणी, तुमको नमस्कार हो।

व्याख्या—त्रिशूल वह आयुध है, जिससे त्रिशूल वा त्रिताप (भौतिक, दैविक और आध्यात्मिक दुःख-त्रय) का नाश किया जाता है। इसकी योग-वाशिष्ठी परिभाषा है—'त्रिशूलं तेन त्रैलोक्यं गृहीतं कर-कोटरे। यस्मात् तद्-व्यतिरेकेण सर्व-भूत-गणेष्वपि। अन्यत्र विद्यते किञ्चिद्देहात्मैव ततः स्थितः। सर्व-सत्वोपलम्भात्मा स्वभावोऽस्य प्रयोजनम्। ईरितः शिव-रूपेण चिन्मात्राकाश-रूपिणा ॥'

—निर्वाण प्र० उ० ८० सर्ग।

चन्द्र 'चदि प्रकाशे—रक् उणादि' का अर्थ है प्रकाश करनेवाला पदार्थ। इसका रहस्यार्थ ज्ञान है। रहस्य-भाव में चन्द्र का ही विशेषण त्रिशूल है अर्थात् चन्द्र अर्थात् ज्ञान त्रिताप-नाशक है।

अब इस ज्ञान का रूप वा आकार कैसा है, तो सर्प-वत् कुण्डलाकार अर्थात् गोल। इससे समष्टि भाव में कुण्डली-महाशक्ति का और व्यष्टि-भाव में प्राण-शक्ति सार्ध-त्रिवलयाकारा का बोध है। यह

कुण्डली महा-शक्ति विश्व-व्यापिनी है, जो अपनी इच्छा से गुणिका होकर रहती है। यह त्रिगुणा से लेकर एकावन गुणा तक है। सभी एकावनों मातृकाओं की उत्पत्ति है—'पञ्चाशच्चन्द्र-गुणिता मातृकोत्पत्ति-सुन्दरी'—शक्तिसङ्गम।

महा-वृषभ से श्रेष्ठ धर्म का बोध है—'वर्षति कामान् इति वृषः धर्म। वृष वर्षणे-अभन् उणादि।' इससे महा-धर्म-शीला का बोध है। यद्वा वाहिनी के वह धातु का एक अर्थ प्रापण (प्राप्त्यर्थ) में भी प्रयोग है। इस प्रकार महा-धर्म से ही ज्ञात होनेवाली का बोध है।

पूर्वोक्त लक्षणाओं से मण्डिता माहेश्वरी वा रौद्री अर्थात् क्रिया-शक्ति-स्वरूप में माता नारायणी अर्थात् परमात्म-शक्ति को प्रणाम।

मयूर-कुक्कुट वृते महा-शक्ति-धरेऽनघे।
कौमारी-रूप-संस्थाने नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१५॥

टीका—हे मयूर और कुक्कुट से घिरी महा-शक्ति रखनेवाली निष्पापा कौमारी-स्वरूपिणी नारायणी! तुमको प्रणाम हो।

व्याख्या—मयूर 'मि दूरी करणे-ऊरन् उणादि' से शत्रुओं की खदेड़नेवाली शक्ति का बोध है। फिर कुक्कुट 'कुक् कोकनम्। कुक् आदाने, कुटतीति कुटः, कुट कौटिल्ये' से एकाधिक तात्पर्यों का बोध है। इससे काट कर लेनेवाली, खरोंच कर लेनेवाला और कुत्सित वस्तु को काटनेवाला आदि का बोध है। रौढ़िक रूप में अग्नि स्फुलिङ्ग (चिनगारी) भी अर्थ है। अस्तु, इससे अविद्या-रूप शत्रुओं को दूर करनेवाली शक्तियां अर्थात् विद्या-रूपी प्रकाश-रेखा से जो आवृता है, ऐसा बोध है। इसी से शक्ति-सेना-समन्विता कहते हैं।

'महा-शक्ति-धरा' से शब्दार्थ-तया ऐसा बोध है कि 'शक्ति' नाम के एक श्रेष्ठ आयुध को हाथ में रखनेवाली है। इसका तात्पर्य बड़ी बड़ी धर्म-शक्तियां रखनेवाली धर्मी शक्ति अथवा महा-धर्मी शक्ति (शक्ति-धरा) से है।

'अनघा' का वाच्यार्थ है पाप-रहिता। इससे इसका निर्लेपत्व और निर्मलत्व आदि लक्षणों का बोध है। मल ही अघ अर्थात् पाप है। इसका मूल भेद-ज्ञान है। इस प्रकार इसकी समता का भी बोध है। इस भाव के मनन से हमारी द्वैत-प्रतीति दूर होती है।

पूर्वोक्त-लक्षणाओं से व्यंजित कौमारी अर्थात् कुमारी अर्थात् 'कु' अर्थात् द्वैत-भाव-मूलक बुराइयों को 'मारी' अर्थात् दूर करनेवाली महा विद्या-रूपिणी नारायणी महाशक्ति वा आदि-शक्ति को प्रणाम हो अर्थात् हमारा ऐक्य-भाव हो।

शङ्ख-चक्र-गदा-शार्ङ्ग-गृहीत-परमायुधे।
प्रसीद वैष्णवी-रूपे नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१६॥

टीका—हे शङ्ख, चक्र, गदा और शार्ङ्ग अर्थात् धनुष—इन चार श्रेष्ठ आयुधों की धरनेवाली वैष्णवी-रूपिणी प्रसन्न हो। हे नारायणी, तुमको प्रणाम हो।

व्याख्या—इस 'शङ्ख' की संज्ञा है पाञ्चजन्य, जिसका उल्लेख हमको गीता में भी मिलता है। यह आध्यात्मिक वा दार्शनिक दृष्टि से पञ्चापञ्च कारक आयुध है अर्थात् पञ्च-भूत भाव-लयात्मक आयुध है जैसा 'इशारे' से श्रुति कहती है 'पञ्च-भूतात्मक शङ्ख करे रजसि संस्थितम्।' इसी भाव का द्योतक काली महाविद्या हस्त-स्थित छिन्न मुण्ड और तारा महाविद्या हस्त-स्थित कपाल है।

'चक्र' का नाम सुदर्शन हैं। इसका रहस्यार्थ है अति चञ्चल वा सर्वदा धावमान मन 'वाल-स्वरूपमित्यन्त मनश्चक्रं निगद्यते'- श्रुति। इस आयुध से दोनों क्रियायें होती हैं--अविद्या जाल काटा जाता है और मन की चञ्चलता द्वारा जगत् को स्थिति भो 'कायम' रखी जाती है।

'गदा' का सज्ञा कौमाद का है। इससे आद्या विद्या का बोध है 'आद्या विद्या गदा वेद्या'-श्रुति।

'शार्ङ्ग' अर्थात् धनुष से उस आयुध का तात्पर्य है, जिससे ज्ञानी जीव-द्वारा लक्ष्य-वेध कराया जाता है अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान की जिससे प्राप्ति है। ऐसा उपदेश श्रुति इन शब्दों में देती है 'धनुर्गृहीत्वौप-निषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशित सन्दधीत। आयम्य तद् भाव-गतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि।'—मुण्डक २।२।३ अर्थात् धनुष लेकर उपासना से भँजे उपनिषत्-रूपी श्रेष्ठ शर चढ़ा तद्-गत भाव से अक्षर अर्थात् ब्रह्म-रूपी लक्ष्य का वेध करो।

ये चारों वैष्णवी अर्थात् ज्ञान-शक्ति के आयुध हैं। इनसे स्थिति-क्रिया और लय-क्रिया दोनों ही होती हैं। बहिर्मुखी प्रयोग से स्थिति-क्रिया और अन्तर्मुखो प्रयोग से लय-क्रिया होती है।

ऐसी वैष्णवी अर्थात् विश्व-व्यापिनी शक्ति के प्रसन्न होने पर ही अर्थात् इसी की कृपा से कल्याण है। इस हेतु 'प्रसीद' पद के प्रयोग के पश्चात् नमस्क्रिया है। तात्पर्य कि गीतोक्त बुद्धि-योग देनेवाली नारायणी वा परमात्म-महा-शक्ति का यही ज्ञान वा विज्ञान शक्ति-रूप है।

गृहीतोग्र-महा-चक्रे द्रंष्टोद्धृत-वसुन्धरे।
वराह-रूपिणि शिवे नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१७॥

टीका—हे महा-उग्रं चक्र की धारण करनेवाली, पृथ्वो का दाँतों से उद्धृत करनेवाला वराह-रूपो मोक्ष-दायिनी नारायणी शक्ति ! तुमको प्रणाम हो।

व्याख्या—इस पद्य में कल्याण करनेवाली नारायणी के वाराही रूप का प्रतिपादन है। वराह 'वर—आङ्—हन्—ड' का तो अर्थ है वर का त्याग व हनन करनेवाला परन्तु वाराही शक्ति वाला (त्रिपुरा-वाला) मन्त्रिणी हैं। वाला की शक्ति-सूत्रोक्त परिभाषा है–'वल-लाभे विश्वमात्म-सात् करोति'। यह वाराही वाला स्वात्म देवता की मन्त्रिणी वा तोष-कारिणी है। यह अन्तर वृत्ति-विशेषों को अर्थात् वादों को क्षय करता है, जिससे ही स्वात्म-देवता वाला की तुष्टि है। इस प्रकार पूर्वोक्त वराह की व्युत्पत्ति भी सार्थक है। यह उस शक्ति का नाम है, जिससे उत्तोलन-क्रिया वा कुण्डली (व्यष्टि आत्म-शक्ति) आरोहण-क्रिया सम्पादित होती है। इसी क्रिया का द्योतक है वसुन्धरा की इस शक्ति के दाँतों द्वारा ऊर्ध्व उत्तोलन क्रिया।

इस शक्ति अर्थात् वाराही-शक्ति के हाथ में महा-उग्र चक्र हैं। यहाँ स्मरण रखना उचित है कि चक्र एक नहीं अनेक हैं। एक श्रुति के अनुसार सात हैं–आचक्र, विचक्र, सुचक्र, धीचक्र, सच्चक्र, ज्वाला-चक्र, महा-चक्र (सुदर्शन-चक्र)। यहाँ उग्र महा-चक्र से ज्वाला-चक्र का बोध है। तात्पर्य कि यह ऊर्ध्व ले जानेवाली शक्ति ज्वालास्त्र-शालिनी है।

परमा-शक्ति वा नारायणी का प्रणाम इस रूप में भो पूर्व आवश्यक है। ऐसा पूर्वोक्त पद्यों के निष्कर्षवत् इस पद्य वा सभी पद्यों से तात्पर्य है।

नृसिंह-रूपेणोग्रेण हन्तुं दैत्यान् कृतोद्यमे।
त्रैलोक्य-त्राण-सहिते नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१७॥

टीका—हे नृसिंह के रूप से राक्षसों को मारने को उद्यत होनेवाली, तीनों लोकों के उद्धार और हित अर्थात् उपकार-संयुक्त शीला नारायणि! तुमको प्रणाम हो।

व्याख्या—इस पद्य में स्पष्ट रूप से इस महा-चिति के उग्र रूप का प्रतिपादन है। उग्र उसी को कहते हैं, जो शीघ्र ही स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष वा देखने में आवे। नारसिंही रूप उग्र है कारण यह रूप अति शीघ्र दैत्य हिरण्यकश्यपु को मारने और प्रह्लाद की भलाई (हित) के हेतु जड़ वस्तु से स्थिति रूप में प्रादुर्भूत हुआ था। उग्र रूप की उपासना सरल नहीं है। इसमें जैसी शीघ्र इष्टा-पत्ति की सम्भावना है, वैसी अनिष्टापत्ति की भी सम्भावना है। चण्डी-रूप की उपासना तान्त्रिक काली, उग्रतारा, कराली (छिन्नमस्ता) आदि के सदृश उग्र है। चण्डी अर्थात् क्रुद्धा 'चडि कोपे' स्वभावतः उग्र रूप है। इसकी उपासना यथार्थ वीर प्रह्लाद के सदृश प्रबल सत्य ज्ञान प्रभाव-शाली व्यक्ति ही कर सकते हैं और यथेष्ट फल-प्राप्ति कर सकते हैं। तभी तो प्रह्लाद जड़ स्फटिक स्तम्भ को भेदन करा कर चैतन्य-मय स्वरूप को उद्भासित करा सके थे।

हम शाक्त साधकों को इसी पथ का अनुसरण कर अपने जड़त्व का नाश नारसिंही शक्ति द्वारा, जो हम व्यष्टियों में भी है, कराना चाहिये।

किरीटिनि महा-वज्रे सहस्र-नयनोज्ज्वले।
वृत्र-प्राण-हरे चन्द्रि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१८॥

टीका—हे मुकुट-धारिणि, महा-वज्र-धारिणि, सहस्र नेत्रों से प्रकाश-मती वा प्रकाश करनेवाली वृत्र नाम के असुर को मारनेवाली ऐन्द्री अर्थात् इन्द्र-शक्ति-रूपिणी नारायणी को प्रणाम हो।

व्याख्या—'किरीट' पद का रौढ़िक अर्थ मुकुट है परन्तु इसका लक्ष्यार्थ है ज्योति वा ज्ञान-ज्योति विखेरनेवाला पदार्थ 'कॄ—कीटन उणादि'। देव 'दिव् प्रकाशे' स्वरूपों के शिरोभूषण अर्थात् चरम धर्म वा गुण ज्योति है।

'वज्र' पद से साधारणतया कठोर पदार्थ का बोध है परन्तु इसका रहस्यार्थ है महा-भय-दायक आयुध वा शक्ति। तात्पर्य कि जिस शक्ति के भय से विश्व की शृङ्खला अक्षुण्ण रहे, वही वज्र है। श्रुति भी कहती है—'महद्-भयं वज्रमुद्यतम्'। इस महा-भयावह वज्र-शक्ति से क्या होता है? यह विद्युत् शक्ति है, जिससे समस्त विश्व प्राण-शील है और जिसकी व्यक्ति से तम का नाश हो जाता है—'अथ कस्मादुच्यते वैद्युतं? यस्मादुच्चार्यमाण एव व्यक्ते महसि द्योतयति'—अथर्व शिर। इसी विद्युद् ब्रह्म-शक्ति 'विद्युद्-ब्रह्म' की महद् भय-रूपिणी धर्म शक्ति वज्र के भय से, जैसा पूर्व उल्लिखित है, आदि क्या पञ्च-तत्व भी अपनी-अपनी निर्दिष्ट कर्त्तव्यता क्रमानुसार करते हैं।

यद्वा वज्र 'वज्—गमने—रक्' से स्पन्द-शीला-त्मक पदार्थ का बोध होता है। इस भाव में महा-स्पन्द-शीलात्मिका है, ऐसा बोध है।

'सहस्र'-नाम बहु-संख्य वा असंख्य का है। यह विश्वतश्चक्षु है, जिस कारण यह अपने दृष्टि-पात से प्रत्येक क्षुद्र-तम परमाणु तक को उज्ज्वल करने-वाली वा उद्भासित करनेवाली है। इससे इसके सर्व-गोचरत्व का भी बोध है। यदि हमको इस लक्षणा पर विश्वास हो, तो इसको सर्वत्र उपस्थित जान कोई भी असत् आचरण न करे। यदि हम इस मन्त्र से भगवती नारायणी को नमस्कार करते हों, तो इस वाक्य को चरितार्थ करना हमारा पावन कर्तव्य है और अपने को इसी परं-ज्योति के नमन

'णो-सञ्चालने-ल्युट' अर्थात् दर्शक तात्पर्य कि अन्त-रात्म-शक्ति से हो सञ्चालित हो गन्तव्य पथ में अग्रसर करें। अथवा अपने को इसी की ज्योति किरणों से उद्भासित समझें। तात्पर्य कि अपने में इस पर-ज्योति के आलोक को देखें। इसो अवस्था में हमारी इस वज्र की आवृत्ति (पाठ) सफल वा यथार्थ होगी, अन्यथा नहीं।

'वृत्र के प्राण की हरनेवाली' पद से अन्त-स्तात्पर्य है अयथार्थ ज्ञान-रूपो आवरण अर्थात् अनात्माकार-वृत्ति की नाश-कर्त्री विद्या। चित्त-वृत्ति का ही नाम वृत्र है। जब तक इसका नाश अर्थात् मनो-लय वा वासना-क्षय नहीं होता, आत्म-ज्ञान नहीं होता। इसी का उपदेश ब्रह्मर्षि वशिष्ठ ने राम को दिया है—

'स्वस्थस्तिष्ठ निराशंकं देह-वृत्तिषु मा पत'। '···चित्त-वृत्तिषु मा तिष्ठ ··।' 'चित्तं दूरे परित्यज्य योऽसि सोऽसि स्थिरो भव'। इत्यादि—योग वाशिष्ठ उ० प्र० १-१।

तन्त्रशास्त्र में आवरण-पूजा का यही तात्पर्य है और पुष्प-समर्पण से चित्त-वृत्ति-समर्पण का ही बोध है। ऐसा योग-वाशिष्ठ भी कहता है—'विचित्र-चेष्टा-रूपेण शुद्धात्मानं समर्चयेत्—नि० प्र० पू० ३६।३७।

तन्त्रों में पुष्प-प्रतीक वृत्तियों का विशद् उल्लेख है (देखिये महा-निर्वाण, तारा-रहस्य आदि)। वेदों में भी इसी भाव के द्योतक रूप हैं। यथा इन्द्र ने वज्र से वृत्र को मारकर वर्षा करवाई। यहां ऐसा तात्पर्य है कि बादल हैं, वृष्टि नहीं होती है क्योंकि ये बादल अवरोधक शक्ति से आवृत हैं। इन्द्र अर्थात् राजा ने देखा कि प्रजा को जल के बिना कष्ट हो रहा है और अन्न न होने से होगा। बस, इन्होंने वज्र-शक्ति का प्रयोग कर अवरोधन शक्ति को नष्ट कर दिया। इस पर वर्षा हुई। इसी प्रकार ऐंद्री शक्ति अर्थात् इन्द्रियों की रानी पर मनः शक्ति हम जीवों (पाश-बद्ध जीवों) के आवरण अर्थात् आँख के पर्दे को वज्र अर्थात कठोर कुठाराघात से हटानेवाली है।

दुःख ही सुख का कारण है—'दुःखैर्विना सुखं नोपलभ्यते'। दुःखाग्नि से ही मन के मल दग्ध होते हैं।

इस प्रणमन-मन्त्र से उद्बोधिनी-शक्ति में जागृत हो नारायणी अर्थात् समष्टि-व्यष्टि-रूपिणी आत्म-शक्ति से मिलना है।

शिव-दूती-स्वरूपेण हत-दैत्य-महाबले।
घोर-रूपे महा-रावे नारायणि नमोऽस्तु ते ॥ १६॥

टीका—हे शिव को दूत बनानेवाली, दैत्य महा-सेना को मारनेवाली, भयानक रूपवाली, महा-शब्द करनेवाली नारायणी! तुमको प्रणाम हो।

व्याख्या—शिवदूती 'शिवं दूतयति दूतं करोति इति शिव दूती' पद से अन्तस्तात्पर्य है उस धर्म-शक्ति से, जो शान्ति-स्वरूप शिव को विवेक-रूप से विद्रोही अनात्माकार-वृत्तियों को समझा कर ठण्डा करने को भेजती है। तात्पर्य कि विवेकानुकूल वातावरण बनाना चाहती है। जब इससे काम नहीं चलता, तो रौद्री शक्ति से काम लेती है। इसका उदाहरण भगवती महाशक्ति का शान्ति-प्रस्ताव-वाहक शिव को असुर-राज शुम्भ के पास भेजना है (देखिये आठवां अध्याय)। यह चेतावनी देनेवाली है। इसका अनुभव हम व्यष्टि जीवों को भी होता रहता है। सद् बुद्धि-स्वरूपिणी शिव-दूती हममें रहनेवाले अहंकारादि षट्-रिपुओं को चेतावनी देती रहती है। अगर हम संस्कार-वश मान जाते हैं,

ता कठोर प्रत्याघात नहीं सहने पड़ते अन्यथा इन शत्रुओं का नाश होता है अर्थात् दर्प आदि चूर्ण होते हैं।

इस शक्ति का एक काम तो सम्भव होता ही है। वह है आसुरी शक्ति के तेज का ह्रास। जीव स्वभाव-वश अनात्माकार-वृत्तियों का त्याग न भी कर सके परन्तु सद्-बुद्धि एक बार तो इन वृत्तियों के जड़ 'मोरेल' को शक्ति-हीन कर ही देती है। इसी कारण इसकी लक्षणा है—'हत-दैत्य-महाबला, हतं दैत्यानां महा-बलं यया सा'।

'चेतावनी' का रूप घोर होता है तात्पर्य कि भयावह होता है। यह भयावहत्व भावी आशङ्का-जन्य है। यह बाह्य रूप है। अन्तर में तो पूर्ण सौम्य रूप है, जिसमें दया-रूपी सागर आनन्द की लहरी उछालता रहता है—'चित्ते कृपा समर-निष्ठुरता···'। यही आनन्द-तरङ्ग अर्थात् 'मा भैः' की वाणी जोर-जोर से घोषित करती रहती है। इसी कारण इसकी एक लक्षणा महा-रावा है।

आओ शाक्त-बन्धु ! हम भी अन्तर्नाद की अभय-वाणी सुनने की चेष्टा करें। यह भी एक प्रकार का नादानुसन्धान है, जिसकी प्राप्ति से ही बिन्दु-ज्ञान होता है।

दंष्ट्रा कराल-वदने शिरो-माला-विभूषणे।
चामुंडे मुंड-मथने नारायणि नमोऽस्तु ते ॥२०॥

टीका—हे बड़े-बड़े दाँतों के कारण रौद्र मुख-वाली, मुण्ड-माला धारण करनेवाली, चण्डासुर को मारनेवाली, मुण्ड-मथन करनेवाली नारायणी महा-शक्ति, तुमको प्रणाम हो।

व्याख्या—दंष्ट्रा 'दंश्—ष्टन्—टाप्' के कारण ही इसका वदन वा मुख-मण्डल कराल दीखता है। दंष्ट्रा का वाच्यार्थ है लम्बा दाँत। परन्तु इससे कुतरनेवाली शक्ति का बोध है। इससे छोटी-छोटी उपाधि हटाई जाती है। यह लक्षणा दश महा-विद्याओं में से प्रथमा और द्वितीया को है। इस लक्षणा को दार्शनिक व्याख्या 'श्री काली स्वरूप तत्व' और 'श्री तारा स्वरूप तत्व' में देखिये। यहाँ चण्डासुर को मारनेवाली काली-शक्ति है, जिसकी एक संज्ञा इसी हेतु अर्थात् चण्ड-मुण्ड के मारने पर चामुण्डा हुई—'यस्माच्चण्डं च मुण्डं च गृहीत्वा त्वमुपागता। चामुण्डेति ततो लोके ख्याता देवि भविष्यसि' ॥

यहाँ पुराणोक्त काली शक्ति के रूप में नारायणी का प्रतिपादन है। इस काली धर्म-शक्ति से समष्टि-स्थित और व्यष्टि-स्थित चण्ड और मुण्ड असुरों अर्थात् विशिष्ट दोनों आसुरी सर्गों का नाश होता है। ये चण्ड और मुण्ड असुर-द्वय दृप्त-वृत्ति और खण्डाकार-वृत्ति-द्वय के द्योतक हैं। दृप्ति-वृत्ति से धर्म का उल्लंघन है अर्थात् सद्-विवेक नष्ट होता है और खण्डाकार-वृत्ति व्यवसायात्मिका बुद्धि है। 'मुण्ड-मथना' पद का यही रहस्यार्थ है कि मुण्ड 'मुडि खण्डने' अर्थात् खण्डाकार-वृत्ति का विलोडन करनेवाली अर्थात् भयङ्कर असार पदार्थ को फेंक कर अर्थात् खण्डाकार वा द्वैत वृत्ति को छान-बीन कर दूर हटानेवाली।

'शिरोमाला-विभूषणा' पद से ऐसा बोध है कि भगवती शिर 'श्रि—असुर उणादि' अर्थात् श्रेष्ठ गुणों की माला से विभूषिता है। तन्त्रशास्त्र में इस लक्षणा से शब्द-ब्रह्म-विभूषणा (विज्ञापिता) पर-ब्रह्म का बोध है, कारण इस पचास दाने की माला का एक-एक दाना वा मुण्ड अर्थात् कटा सिर एक-एक मातृका वर्ण का द्योतक है।

लक्ष्मि लज्जे महा-विद्ये श्रद्धे पुष्टि-स्वधे ध्रुवे।
महा-रात्रि महाविद्ये नारायणि नमोऽस्तु ते ॥२१॥

टीका—हे लक्ष्मी, लज्जा, महा-विद्या, श्रद्धा, स्वधा, ध्रुवा, महा-रात्रि, महा अविद्या-रूपिणी नारायणी ! तुमको प्रणाम हो ।

व्याख्या—'लक्ष्मी' से देखनेवाली अर्थात् सर्व-साक्षिणी शक्ति का बोध है । यद्वा इससे सम्पत्ति-द्वय ऐहिलौकिक और पारलौकिक सम्पत्ति का बोध है । यद्वा शोभा-शक्ति का बोध है, जिससे हम जीवों की शोभा है । तन्त्रशास्त्र में इसकी पर्यायवाचक संज्ञा सुन्दरी है ।

'लज्जा'-रूपिणी है । 'लज्जा' से कर्तव्य के न करने से और अकर्तव्य के करने से जो भाव है, इसका बोध नहीं है । लज्जन-लक्षणा से सङ्कोचन-क्रिया का बोध है । तात्पर्य कि व्यवसायात्मिक रूप में परिवर्तन-भाव को ही चित्त-वृत्ति की लज्जन-क्रिया कहते हैं । इस रूप में आत्म-शक्ति की यह धर्म-शक्ति जीव को अन्तर्मुख करती है ।

'महा-विद्या' से उस विद्या वा ज्ञान का बोध है जिससे महद्-ब्रह्म के ज्ञान की प्राप्ति होती है अर्थात् पर-ब्रह्म के ज्ञान की प्राप्ति होती है । इसको पर-मात्म-गोचर ज्ञान-शक्ति कहते हैं ।

'श्रद्धा' का अर्थ है श्रत् अर्थात् आस्तिक्य का ध्यान अर्थात् धारण 'श्रदास्तिक्यं तस्य धानम्' । तात्पर्य कि आस्तिक्य की धारणा जिससे हो । किसी वस्तु के अस्तित्व माननेवाले को आस्तिक कहते हैं । इसकी भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ हैं, परन्तु मुख्य यही है कि मूलाधार परमा-शक्ति वा ब्रह्म वा ईश्वर के अस्तित्व को मानना ही आस्तिक्य है । इसकी धारणा जिस ज्ञान-शक्ति से है । यही श्रद्धा है । यह जब तक हम जीवों में जागृत नहीं होती, हम अनुसन्धान-क्रिया में प्रवृत्त नहीं होते ।

'पुष्टि' से शरीर-पुष्टि और आत्म-पुष्टि दोनों का बोध है । यह वह शक्ति है, जो शरीर और आत्मा दोनों को पुष्ट वा सबल बनाती है, जिससे आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है । श्रुति कहती है-'नायमात्मा बल-हीनेन लभ्यः' ।

'स्वधा'-'स्वं आत्मानं धाति धारयति' से आत्म-धारण वृत्ति-शक्ति का बोध है । तात्पर्य कि आत्मा-कार वृत्ति धारण करनेवाली शक्ति का बोध है ।

यद्वा स्व से जीव-भाव का बोध है । इस भाव में अनात्माकार-वृत्ति धारण करनेवाली शक्ति वा अविद्या-शक्ति का बोध है ।

यद्वा ष्विद् धातु से बने 'स्वधा'-पद से पर और अपर रसास्वादन करनेवाली आत्म-शक्ति का बोध होता है ।

'ध्रुव'-से नित्या का बोध है । इससे नियति का भी बोध होता है ।

'महारात्रि'—से महत् के अवसान-समय का बोध है । जिस प्रकार काल-रात्रि से रुद्रावसान-समय और मोह-रात्रि से विष्णु के अवसान-समय का बोध होता है, उसी प्रकार महा-रात्रि से ब्रह्मा के अवसान समय का बोध है ।

'महाविद्या'—से महती वा बड़ी अविद्या का बोध है । इसका महत्व इस हेतु है कि यह सब जीवों में आत्मावरण-शक्ति होकर प्रपञ्च की स्थिति की रखनेवाली है । इसी को महा-माया कहते हैं, जिसके ज्ञान से मुक्ति है । कारण यहां माया 'मीयते अनया सा' है अर्थात् जिससे आत्मा का मान होता है ।

मेधे सरस्वति,वरे भूति बाभ्रवि तामसि ।
नियते त्वं प्रसीदेशे नारायणि नमोऽस्तु ते ।।२२।।

टीका—हे मेधा, सरस्वती, श्रेष्ठा, सत्व-गुणा, रजोगुणा, तमोगुणा, अवश्यंभावी स्वामिनी, तुम

प्रसन्न हो। हे नारायणी, तुमको प्रणाम हो।

व्याख्या—'मेधा' से उस बुद्धि-शक्ति का बोध है, जिससे सब कुछ की धारणा है। 'मेधृ सङ्गमे च मेधते सङ्गच्छते'। संक्षेप में इससे धारणावती बुद्धि का बोध है। धारणावती से ब्रह्म-विद्या धारणावती का ही तात्पर्य है।

'सरस्वती' पद अनेकार्थ-वाचक है। साधारणतया इससे वाग्-देवता का बोध है—'सरोऽस्त्यस्या इति सरस्वती भारती'। इसकी योग-वाशिष्ठी परिभाषा है—'सरणात् सर्व-दृष्टीनां कथितैषा सरस्वती' अर्थात् सब दृष्टियों के सरण के कारण यह सरस्वती कहलाती है। संक्षेप में सरण गुणवती अर्थात् विकास वा 'इवाल्यूशन' करनेवाली का इस पद से बोध है। इसके विशद ज्ञान के हेतु सरस्वती-रहस्योपनिषत् देखना चाहिये।

'वरा' का वाच्यार्थ श्रेष्ठा है। श्रेष्ठत्व का यहाँ सापेक्षिक भाव से बोध नहीं है। यहाँ परमा व परतरा का अर्थात् सर्व-श्रेष्ठा का बोध है।

'भूति' वा विभूति पद छान्दस प्रयोग है, जिसमें गुण का अभाव रहता है। इससे सत्व-गुणवती का बोध है। कारण में कार्य के उपचार-योग से भूति है।

'बाभ्रवी' से रजोगुण-प्रधाना का बोध है।

'तामसी' पद से निद्रा-स्वरूपा, अन्धकार-स्वरूपा, आलस्य आदि तामसी सर्ग-स्वरूपा का बोध है।

पूर्वोक्त तीनों गुण वा लक्षणावती होने के कारण सर्व-स्वरूपा है, ऐसा बोध होता है अर्थात् इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

'नियति—नियम्यते अनया वा नियच्छति इति वा' से प्राचीन कर्म-वश फलोत्पत्ति का बोध है। यद्वा प्रकृति के गुण-क्रम का बोध होता है। इसी को काल-चक्र कहते हैं। इसका खण्डन करनेवाली काल-कलन करनेवाली काली मात्र है, जिसको अघटन-घटना-पटीयसी कहते हैं।

सर्व-स्वरूपे सर्वेशे सर्व-शक्ति-समन्विते।
भयेभ्यस्त्राहि नो देवि दुर्गे देवि नमोऽस्तु ते ॥२३॥

टीका—हे अखिल विश्व-रूपिणी, अखिल विश्व की स्वामिनी, अखिल शक्ति अर्थात् सामर्थ्य लक्षणाओं से युक्त देवी, भयों से हमारी रक्षा करो। हे दुर्गा देवी ! तुमको प्रणाम हो।

व्याख्या—'सर्व-स्वरूपा' के दो अर्थ हैं। एक तो जगत् में जितने पदार्थ हैं, सब इसी एक के रूप हैं और दूसरा यह कि यही हमारी सर्वस्व अर्थात् एकमात्र धन वा सम्पत्ति है। दोनों तात्पर्य युक्त हैं। पूर्व-पक्ष में एक-जीव-वाद सिद्धान्त-समर्थक 'एकोऽहं बहु-स्याम' श्रुति-वाक्य के अनुसार यही अपने को लीला के निमित्त सर्व-रूप में परिणता करती है। पर-पक्ष में यही मूल-सत्ता सबकी सर्वस्व रूपा है कारण हमारा यही आध्यात्मिक, दैविक और भौतिक—कायिक, वाचनिक और मानसिक सम्पत्ति वा शक्ति है। हम जीव अर्थात् पाश-बद्ध भूतों की क्या कथा, शिवों की भी यही सर्वस्व वा शक्ति है, जिसके विना शिव भी शव अर्थात् अकर्मण्य होते हैं।

'सर्वेशा' पद के भी दो अर्थ हैं। 'सर्व' नाम प्रपञ्च-जात व्यक्ति मात्र का है और 'सर्व' नाम शिव का भी है। इस प्रकार यह अखिल विश्व और शिव की स्वामिनी है, ऐसा बोध होता है। यद्वा शिव सिद्धान्त के अनुसार शिव जिसके स्वामी हों, वह—'शिव ईशो यस्याः सा' ऐसा अर्थ है परन्तु यह अर्थ युक्त नहीं है, कारण शिव स्थाणु है अर्थात् निश्चल है। इसको अर्थात् पदार्थ वा 'मैटर' को

चलानेवाली प्राण-शक्ति 'स्पिरिट वा इनर्जी' यही है। इस प्रकार यही स्वामिनी है, ऐसा ही अर्थ युक्त है।

'सर्व-शक्ति-समन्विता' से यह बोध है कि धर्म-शक्ति वा 'पोटेंशियल इनर्जी' में विकासात्मक, सङ्कोचात्मक आदि विविध शक्तियाँ हैं, जिनको आधुनिक विज्ञान ने 'काइनेटिक' 'केमिकल' 'मैगनेटिक' आदि संज्ञाएँ दे रखी हैं। वस्तुतः शक्ति एक ही है, जिसको 'मदर पावर' कहते हैं। इसी की गुण-प्रक्रियानुसार विविध संज्ञाएँ हैं। इसी हेतु इन धर्म-शक्तियों को भिन्नाभिन्न अर्थात् ऊपर से भिन्न होते हुये भी अभिन्न वा एक कहते हैं।

'भयेभ्यः' अर्थात् भयों से रक्षा करो, ऐसा प्रार्थना-श्लोक है। यद्यपि भय एक ही है–द्वैत-भय, परन्तु यह तीनों प्रकार के भय की दूर करनेवाली है। इसी हेतु वहु-वचनान्त पद का प्रयोग है और नारायणी शक्ति का दुर्गा-शक्ति-स्वरूप में सम्बोधन है। कारण जिसके नामोच्चारण से मृत्यु भी भागती है—'दूरं हि अस्या मृत्युर्दूर हवा अस्मान् मृत्युः'—श्रुति। फिर श्रुति कहती है कि इसके ज्ञान से पाश कटते हैं—'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः'—श्वे० १। इसी से स्मृति कहती है–'प्रभाते स्मरेन्नित्यं यो दुर्गा-दुर्गाक्षर-द्वयम्। आपदस्तस्य नश्यन्ति तमः सूर्य्योदये यथा॥'

'त्राहि' रक्षण-प्रार्थना से अमरत्व-भाव-प्रदान की प्रार्थना का बोध है। कारण 'रक्षण एव' शक्ति-भाष्य (देखिये ब्रह्म-सूत्र का प्राणाधिकरण)।

एतत्ते वदनं सौम्यं लोचन-त्रय-भूषितम्।
पातु नः सर्व-भीतिभ्यः*कात्यायनि नमोऽस्तु ते॥२४॥

टीका—हे कात्यायनी ! तुम्हारा तीन नेत्र से शोभित सौम्य मुख-मण्डल हम सबकी सब प्रकार की आपदाओं से रक्षा करे। तुमको प्रणाम हो।

व्याख्या—'कात्यायनी' पद से रक्षण-कर्त्री का बोध है। यहाँ रक्षण-क्रिया है अशुद्ध त्रिपुटी से अर्थात् ज्ञातृ, ज्ञान और ज्ञेय के अयथार्थ ज्ञान से। ये ही भीति वा भीति के हेतु हैं। इनका नाश वा दूरीकरण है शुद्ध त्रिपुटी के यथार्थ ज्ञान से, जिसका द्योतक है लोचन-त्रय, जिसके एकाधिक तात्पर्य हैं। (देखिये अस्मदीय श्री तारा-स्वरूप-तत्व)। भय वा भीति मात्र का कारण है द्वैत बुद्धि। इसी द्वैत बुद्धि को दूर करने के निमित्त यह प्रणाम-श्लोक है। द्वैत-भाव को दूर करके हो यथार्थ प्रणमन अर्थात् सम्वेश हो सकता है।

ज्वाला-करालमत्युग्रमशेषासुर-सूदनम्।
त्रिशूलं पातु नो भीतेर्भद्रकालि नमोऽस्तु ते॥२५॥

टीका—ज्वाला से भीषण, उग्र और समस्त असुरों का संहार करनेवाला त्रिशूल हम लोगों को भय से रक्षा करे। हे भद्रकाली ! तुमको प्रणाम हो।

व्याख्या–'ज्वाला-कराल' से प्रकाशाधिक्य से भयावह वस्तु का बोध है। भयावहत्व दोष नहीं है, कारण गुणाधिक्य में यह स्वाभाविकतया सन्निहित है। फिर यह ग्राहकत्व-परिमाण से ग्राह्य वा अग्राह्य है। एक ही वस्तु देवदत्त के लिये कराल है, तो भवदत्त के लिये सौम्य है। त्रिशूल, जिसका करालत्व विशेषण है, असुरों के हेतु भय-प्रद है, किन्तु भक्तों के लिये अभय-प्रद है। यह अति उग्र है। इस लक्षण से ऐसा बोध है कि यह आयुध बहुत शीघ्रतया काम करनेवाला है। उग्र देवता प्रसन्न होने से शीघ्र वर-प्रद हैं, किन्त साथ ही तनिक सा

---

*'सर्व-भूतेभ्यः' ऐसा बँगला पाठ है। भूत से पञ्च-महाभूतों का वोध है, जिनसे विषय ग्रहण है। सर्व-भूत-स्वरूपा हो; ऐसा ज्ञान देकर भूत-भय वा द्वत-भय का नाश करो, यह प्रार्थना है।

व्यतिक्रम नहीं सहन कर सकते। इसी प्रकार का यह त्रिशूल है। 'त्रिशूल' पद से (त्रि-अवयव-शूल यद्वा त्रिशूलः ! शिखायत्रेत त्रिशूलम्) का बोध है त्रि-शिखावाले आयुध से। इसी आयुध से कर-कोटर में अर्थात् मुट्ठी में तीनों लोकों को रखती है—'त्रिशूलं तेन त्रैलोक्यं गृहीतं कर-कोटरे' योग-वाशिष्ठ। तीनों लोकों से रहस्यतया ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेय त्रिपुटी का बोध है। यह त्रिशूल इसी त्रिपुटी के भय से अर्थात् त्रिपुटी के बन्धन से हमको मुक्त करता है।

भद्रकाली से भद्र-कारिणी भद्र-कारी (कर्मण्यण्। रलयोरभेदाल्लः) अर्थात् भद्र वा कल्याण करनेवाली का बोध है।

हिनस्ति दैत्य-तेजांसि स्वनेनापूर्य या जगत्।
सा घण्टा पातु नो देवि पापेभ्यो नः सुतानिव ।२६॥

टीका—हे देवी ! जो जगत् को अपने नाद से भर कर आसुरी सर्गों के सामर्थ्य का नाश करता है, वह घण्टा हमको पुत्रों के सदृश पापों से बचावे।

व्याख्या—घण्टा 'हन् ट—टाप्' से अनाहत नाद का बोध है, जिससे अखिल विश्व परिपूरित है। आद्या भगवती की घण्टा-शक्ति के नाद से ही जगत् को सृष्टि और स्थिति हैं। व्यष्टि की भी यही दशा है। जब तक नाद है, तभी तक प्राण-शक्ति-रूपिणी आद्या-शक्ति इस जीव-शरीर में रहती है। नाद के अभाव से प्राण-शक्ति के अभाव का बोध है। यह सर्व-वाद्य-मय घण्टा है। तात्पर्य कि सब प्रकार के शब्द इससे निकलते हैं। विन्दु की ध्वनि वा नाद सेसभी मातृकावर्ण निकले हैं। इस ध्वनि से चराचर जगत् व्याप्त है—'विन्दु-ध्वनि-सकाशात्तु प्रत्येकं वर्ण-जातयः। मातृकाणस्तिदा जाता अक्षरेति तदाऽभवत्॥ ध्वनिना व्याप्तमखिलं जगदेतच्चराचरम्।'—शक्ति-सङ्गम।

इस विन्दु-रूपी घण्टे के नाद वा ध्वनि को दैत्य-तेज-नाशक कहते हैं, कारण इसके श्रवण से ही हमारे आसुरी भाव निर्बल हो जाते हैं। आत्मानुसन्धान रूपी परा-पूजा का प्रथम सोपान है नादानुसन्धान। नाद-श्रवण से विन्दु-ज्ञान वा आत्म-ज्ञान होने लगता है। इस साधन की अपनी एक विशिष्ट प्रणाली वा क्रम है, जिसकी प्रधानता तान्त्रिक साधना में सर्वत्र है। त्रिशूल अर्थात् त्रिपुटी-ज्ञान के पश्चात् यह आयुध काम करता है, जिसके पश्चात् खड्ग अर्थात् अनात्म-प्रतीति-विलय-कारक वा ज्ञान-रूपी असि साधन-समर में काम करता है।

'सुतान् इव पातु' अर्थात् पुत्र की रक्षा जिस प्रकार माता करती है। इस पद से ऐसा बोध है कि जो वह है, वही मैं हूँ। 'आत्मा वै जायते पुत्रः' अर्थात आत्मा ही सुत वा पुत्र का रूप लेता है। इससे एक जीव-वाद की पुष्टि है। इस वाक्य के उच्चारण-समय पाठ-कर्ता को इस भाव के ज्ञान का स्मरण आना उचित है। अन्यथा इस पद के उच्चारण से विशेष लाभ नहीं है।

असुरासृग्-वसा-पङ्क-चर्चितस्ते करोज्ज्वलः।
शुभाय खड्गो भवतु चण्डिके त्वां नता वयम् ॥२७॥

टीका—असुरों के असृक् अर्थात् रुधिर और मांस-पङ्क से लिप्त तुम्हारा कर-शोभित खड्ग हम लोगों के हेतु कल्याण-दायक हो। हे चण्डिके ! तुम्हारे सामने हम प्रणत हैं।

व्याख्या- यह खड्ग त्रिशूल और घण्टा के सदृश स्थूल रूप का नहीं है। रूपकच्छल में ज्ञान है। शिव-धर्मोत्तर कहता है—'तस्मात् ज्ञानासिना तूर्णमशेषं कर्म-बन्धनम्। कामाकाम-कृतं छित्वा शुद्धश्चात्मनि तिष्ठति।' योगिनी तन्त्र भी कहता है—'पाप-पुण्य-पशुं हत्वा ज्ञान-खड्गेन शांभवि'।

यह (खड्ग) महा-शस्त्र है, जिसके सहकारी और सब आयुध हैं। इसी से आद्या महा-विद्या के हाथ में यही एकमात्र आयुध है।

यह खड्ग असुरों के शोणित और मांस-पङ्क से चर्चित है। इसने भगवती के कर को उज्ज्वल कर रखा है। इस खड्ग से ज्ञान का वोध है, जो रक्त अर्थात् रजोगुणात्मक आसुरी भावों के पाशों को छिन्न करता है। इस क्रिया के सम्पादन में यह स्वयं चर्चित वा रञ्जित होता है। मांस-रूपी रक्त वा राग से निर्मित कठोर वा घनीभूत आच्छादक भावों का बोध है—'आच्छादने'। तात्पर्य कि रजो-गुण को इसके आवरण के साथ नष्ट करनेवाला ज्ञान-रूपी खड्ग चमकता है। अर्थात् सत्व-गुण प्रकाशित होता है।

भगवतो चण्डो के प्रति नमस्कार का यहो राह-स्यिक तात्पर्य है कि ज्ञान-आयुध वा विज्ञान धर्म वा शक्ति-शालिनी अपने इस आयुध के गुणानुसार हमारे रजोगुणात्मक आसुरी भावों का नाश करे।

अव इस धर्मी-शक्ति ब्रह्म-रूपिणी चण्डी के ईश्वर-भाव अर्थात् तुष्टावस्था और रुष्टावस्था की क्रिया-द्वय अर्थात् सुख और दुःख-प्रदायक गुणों का प्रतिपादन है। इससे धर्मी-शक्ति और धर्म-शक्ति में अभिन्नता सिद्ध है।

रोगानशेषानपहंसि तुष्टा रुष्टा
तु कामान् सकलानभीष्टान्।
त्वामाश्रितानां न विपन्नराणां,
त्वामाश्रिता ह्याश्रयतां प्रयांति ॥२८॥

टीका—(तुम) प्रसन्न होकर अशेष अर्थात् समस्त रोगों अर्थात् दुःखों का नाश करतो हो और रुष्ट अर्थात् अप्रसन्न होकर समस्त अति प्रिय मनो-रथों का नाश करती हो। तुम्हारे आश्रित-जनों की विपदाएँ नहीं हैं, वे आश्रयता-भाव पाते हैं।

व्याख्या—'तोषण' से तादात्म्य-भाव का अन्त-स्तात्पर्य है। तादात्म्य-भाव के आने पर जीव के त्रिताप स्वतः भागते हैं। रोग से दुःख देनेवाले का वोध है—'रुजन्तीति रोगाः।' अब दुःख शारीरिक यथा ज्वरादि मात्र रूप के नहीं होते। ये बाह्य वा स्थूल-दृष्ट्या दो प्रकार के अर्थात् शारीरिक और मानसिक होते हैं पर सूक्ष्म-दृष्ट्या तीन प्रकार के होते हैं, जिनको आधिभौतिक, आधिदैविक और आधि-आत्मिक कहते हैं।

'रोष' से द्वैत-भाव का अन्तस्तात्पर्य है। द्वैत-भाव ही सब दुःखों का मूल है। इसकी रुष्टावस्था से खण्डाकार-जन्य अनात्माकार-वृत्ति-स्थित जीवावस्था का बोध है। जीव जब प्राण-धर्म की अवज्ञा वा अवहेला करता है, तो प्राण-धर्म-रूपिणी महा-शक्ति स्वतः इससे रुष्ट वा पृथक् हो जाती है। यह रुष्टता इस महा-शक्ति की असहयोगावस्था का द्योतक है। इसका स्वाभाविक फल है इष्ट वस्तु अर्थात् सुख की अप्राप्ति।

इस 'सकलाभीष्ट काम-वासनाओं का नाश करती है' पद से एक गूढ़ अर्थ यह भी है कि रुष्ट होकर भी यह भगवतो हमारी काम-वासनाओं का नाश कर हमारा कल्याण करती है। कारण वासना-क्षय विना मुक्ति की प्राप्ति नहीं होतो। यह रुष्ट होकर भी हमारी भलाई ही करती है, ऐसा हमको ध्यान में सर्वदा रखना उचित है।

आश्रित 'आसमन्तात् श्रितः लग्नः' पद से सब प्रकार से तल्लग्नता का वोध है। इस तल्लग्नता वा तल्लीनता का बोध है इस प्राण-महाशक्ति से, न केवल ज्ञान-भाव से अपितु क्रिया-योग-भाव से भी। बिना क्रिया-योग के ज्ञान-भाव का चिर-स्थिरत्व

नहीं है। इसी से श्रुति कहती है—'योग-हीन ज्ञान मोक्ष देनेवाला नहीं है और ज्ञान-हीन योग भी मोक्ष नहीं दे सकता। अतएव योग को ज्ञान से युक्त करके ही अभ्यास करना चाहिये।'

'तुम्हारे आश्रित आश्रयता को प्राप्त करते हैं,' इस पद से ऐसा बोध है कि वे नर अर्थात् न्याय बर्तनेवाले (नृणन्ति नरन्ति वा नयेन व्यवहरन्ति इति नराः। 'नहि नराकृति-धराणां जन्तूनाम्') जो तुम्हारे आश्रित अर्थात् त्वद्-गत भाववाले हैं, वे दूसरे के आश्रय वा सेव्य बनते हैं। इस सम्बन्ध में विशेष कहना व्यर्थ है, कारण यह स्वतः-सिद्ध है कि एकसत्ताक पदार्थ की गुण-समानता है। भगवती की आश्रयता अर्थात् सेव्यमानता एक गुण है। इसमें मिल जाने से यह गुण सुतरां मिलनेवालों में आता है।

एतत्-कृतं यत्कदनं त्वयाद्य,
धर्म-द्विषां देवि महासुराणाम्।
रूपैरनेकैर्बहुधाऽत्म-मूर्ति
कृत्वाम्बिके तत् प्रकरोति कान्या ॥ ३० ॥

टीका—हे देवी जननी! आज जो तुमने अपने को बहु अर्थात् विविध रूपों में प्रकटित कर धर्म के द्वषी बड़े-बड़े असुरों का कदन अर्थात् वध किया है, ऐसा तुम्हारे सिवा कौन कर सकता है अर्थात कोई भी नहीं कर सकता।

व्याख्या—'देवी' से व्यवहार-शोला का बोध है और 'अम्बिका'-पद से विश्व-जननी वा विश्व-पालयित्री का। व्यवहार-कुशला माता ही सन्तान की सुचारु रूप से पालनेवाली हो सकती है।

यह एक ही है, साथ-साथ 'बहु' वा अनेक भी है। इस एकत्व और बहुत्व—विरोधी गुण-द्वय का समन्वय हम अज्ञानी नहीं कर सकते। इसी से हम लोगों की शिक्षा के निमित्त ऐसा कहा गया है, जिससे हम मनन करके इसकी अनुभूति प्राप्त करें। यही चरम ध्येय है। इसी प्राप्ति के हेतु इतने दर्शन, इतने उपनिषद्, इतने शास्त्र हैं। परन्तु साथ-साथ यह भी ध्यान में रखना उचित है कि जो भगवती के निरञ्जन-रूप को ही मानकर बहुधा व्यक्त मूर्तियों को मिथ्या कहते हैं, वे भारी भ्रम में हैं। कारण जब तक जगत्-प्रतीति है, तब तक इस मूर्ति-स्वरूप वा मूर्त्त ब्रह्म को, जिसके अस्तित्व को श्रुतियाँ भी मानती हैं, मिथ्या कहकर उड़ा नहीं सकते।

'रूपं रूपं प्रति-रूपो बभूव' कहकर श्रुतियाँ सर्व-रूपत्व वा बहु-रूपत्व को स्वीकार करती हैं। विशेषता यही है कि बहु वा सर्व-रूप में व्यक्ता होकर भी इसका एक-स्वरूपत्व अक्षुण्ण है, जिसको अनुपहित चेतना कहते हैं। यह समष्टि में भी है और व्यष्टि में भी। यह निष्क्रिय है। इसको अन्त-रात्मा द्रष्टा ब्रह्म कहते हैं। जीवात्मा-रूप में यही सब कुछ करती है।

इसके अतिरिक्त अन्य वा दूसरी शक्ति नहीं है। इससे धर्मी-शक्ति और धर्म-शक्ति का अभेदत्व सिद्ध है। इन धर्म-शक्तियों का काम है आसुरी भावों को दबाना। हम भी ऐसा कर सकते हैं। तात्पर्य कि हममें कौन-कौन सी धर्म-शक्तियाँ हैं; इनका स्वरूप-ज्ञान प्राप्त कर योग-क्रिया द्वारा, जिसको प्राण-यज्ञ भी कहते हैं, पापात्मक आसुरी सर्गों का कदन अर्थात् दलन कर सकते हैं। आवश्यकता है सद्गुरु से रूप ज्ञान सीखना, फिर इनको उपयोग में लाना। अन्यथा इस पद्य वा मन्त्र का पक्षी-वत पाठ निष्फल-प्राय है।

विद्यासु शास्त्रेषु विवेक-दीपे-
ष्वाद्येषु वाक्येषु च का त्वदन्या।
ममत्व-गर्त्तेऽति-महान्धकारे,
विभ्रामयत्येतदतीव विश्वम् ॥३१॥

टीका—(मा ! एक तरफ) विद्याओं में, शास्त्रों में, विवेक वा सद्-बुद्धि दीपन करनेवाले आदि-वाक्यों में अर्थात् महा-वाक्यों में, फिर (दूसरी तरफ) ममता-रूपी बड़े अँधेरे गर्तों में अर्थात् खाइयों में तुम्हारे सिवा और कौन अर्थात् तुम्हीं विश्व को विशेष रूप से भरमाती हो।

व्याख्या—इस पद्य से संक्षेप में यही तात्पर्य है कि यही महामाया भगवती वा परमेश्वरी विद्या और अविद्या रूप-द्वय से जीवों को विशेष रूप से भरमाती है। इसी से यह विद्या भी है और अविद्या भी है।

यह विद्याओं में भरमाती है। इससे ऐसे तात्पर्य का बोध है कि विद्या अर्थात् ज्ञान से ही विभ्रमण है। 'ज्ञानं बन्धः' ऐसा शिव-सूत्र है। ज्ञान का अर्थ है सम्वेदन अर्थात् ज्ञातृ, ज्ञान, ज्ञेय का भाव। यह भाव जब तक रहेगा, तब तक निर्विकल्प मुक्ति न पाकर जीव भव-चक्र में भ्रमण करता हीं रहेगा। तन्त्रशास्त्र भी कहता है—'मुक्तिदा गुरु-वागेका विद्याः सर्वा विडम्बकाः' (कुलार्णव) अर्थात् गुरु-वाक् ही एक मुक्ति देनेवाली है और सब विद्याएँ विडम्बना मात्र हैं। फिर यहाँ 'विद्यासु' पद में बहु-वचन का प्रयोग है। बहु-विषयी ज्ञान से ही बन्धन है।

फिर शास्त्रों में भी, जो विवेक दीपन करनेवाले कहे जाते हैं अर्थात् सद्-बुद्धि देनेवाले हैं, यही भरमाती है। इससे ऐसा बोध है कि शास्त्र-जालों में जो पड़ा, वह चक्कर ही खाता रहेगा। इसी से कहा गया है कि पुस्तकों में जो लिखी विद्याएँ हैं, उनसे सिद्धि अर्थात् मुक्ति (कारण यही यथार्थ सिद्धि है) नहीं होती—'पुस्तके लिखिता विद्या येन सुन्दरि जप्यते। सिद्धिर्न जायते तस्य कल्प-कोटि-शतैरपि' ॥ श्रुति भी कहती है 'उत्तमा तत्व-चिन्तव मध्यमं शास्त्र-चिन्तनम्।' मैत्रेण्युपनिषत्। यथा-कथित विवेक-दीप अर्थात् दर्शन-शास्त्र महा-कूप वा गर्त हैं, जिनमें पशु-गण गिरकर भरमते रहते हैं—'षड्-दर्शन-महा-कूपे पतिताः पशवः प्रिये।' इसी से शास्त्रादेश है—'शास्त्र को छोड़ो'—'पलालमिव धान्यार्थी सर्व-शास्त्रं परित्यजेत्'।

फिर आदि-वाक्य अर्थात् 'तत्वमसि' आदि महा-वाक्यों से पूर्व-मीमांसा वा कर्म-काण्ड का बोध है। पूर्व-पक्ष में ऐसा बोध है कि श्रुतियाँ एक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करतीं, जिससे भ्रम में पड़ना स्वाभाविक है। पर-पक्ष में ऐसा बोध है कि कर्म-काण्ड से स्वर्ग मात्र की प्राप्ति है, मोक्ष की नहीं। यह तो सर्व-विदित है। जिस प्रकार धर्म से मोक्ष नहीं है और सुकृतियों के फल-भोग के हेतु भरमना पड़ता है, उसी प्रकार दुष्कृतियों के हेतु भरमना पड़ता है। दोनों अवस्थाओं में कर्म के पाशों से जीव बँधा रहता ही है।

यद्वा इस पूर्वार्द्ध-पद से ऐसा बोध है कि विद्याओं में, विवेक-दीप-रूप शास्त्रों में (सच्छास्त्रों में) और महा-वाक्यों में तुम्हारे सिवा और किसी दूसरी शक्ति का प्रतिपादन नहीं है।

फिर यही ममत्व के आश्रित संसार-रूपी अन्ध-कूप में अयथार्थ ज्ञान अर्थात् अविद्या शक्ति-द्वारा, जिसकी दो प्रधान शक्तियाँ आवरण और विक्षेप-रूपिणी हैं, विश्व अर्थात् समस्त ब्रह्म से ले कीट-

पर्यन्त को भरमाती है। यही इसकी लीला है, जिससे विश्व की स्थिति वा अस्तित्व है।

इस पद्य से 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सिद्धान्त की सिद्धि है।

रक्षांसि यत्रोग्र-विषाश्च नागा,
यत्रारयो दस्यु-बलानि यत्र।
दावानलो यत्र तथाब्धि-मध्ये,
तत्र स्थिता त्वं परिपासि विश्वम् ॥ ३२ ॥

टीका—जहाँ राक्षस-गण हैं, उग्र विषवाले सर्प हैं, शत्रु हैं, डाकुओं का दल है, दावानल में अर्थात वनाग्नि में और जलों में तुम ही तत्-तत् स्थानों में रहकर विश्व की रक्षा करती हो।

व्याख्या—यह जीवों की केवल भरमानेवाली ही नहीं है अपितु रक्षा अर्थात् अन्तर्मुख करके स्थिरत्व-दायिनी भी है, ऐसा इस पद्य में कहा गया है।

राक्षसों से रक्षा करती है। राक्षस 'रक्ष्—असून्—अण्' का शब्दार्थ ही है कि जिससे रक्षा करनी है। ये वायवी-शरीरी हैं, स्थूल रुधिर-मांसादि-गठित शरीर-धारी नहीं। इनसे आसुरी सर्गों का बोध है। ये हम जीवों के शरीर में वायु-रूप होकर रहते हैं, जहाँ देवालय शरीर में आत्म-रूपिणी देवता वा दुर्ग-रूपी शरीर में प्राण-शक्ति-रूपिणी दुर्गा दुर्ग की रक्षा करनेवाली रहती है। इसी से 'तत्र स्थिता' पद का प्रयोग है।

उग्र विषधर नागों से रक्षा करती है। नाग पद से साधारणतया सर्प का बोध है, परन्तु सूक्ष्म भाव से 'न—अगः' नाग-पद का अर्थ है चञ्चल, धावमान् पदार्थ। इससे चित्त-वृत्ति के स्थिरत्व-भाव के नाश करनेवाले भयङ्कर हिंसादि आसुरी भावों का बोध है।

'अरयः' अर्थात् अरि वा रिपु-गण से शरीरस्थ काम-क्रोधादि षड्-रिपुओं का बोध है।

'द यु-बल' अर्थात् डाकू-दल जबरदस्ती खुलकर आक्रमण करनेवाले हैं। इनसे उन भावों का बोध है, जो ज्ञानियों अर्थात् जगे जीवों पर भी आक्रमण करते हैं। इसका पता हमको 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति' इस उक्ति से मिलता है। इससे सप्त-विध मोह का बोध है, जिसका उल्लेख महोपनिषत् में है।

'दावानल' उस अग्नि को कहते हैं, जो वन में वृक्षों के संघर्षण से उत्पन्न होती है। इसका अन्तस्तात्पर्य विश्व-भावों अर्थात् विषयों के संघर्षण से उत्पन्न शोक-दुःखादि भावों से है, जो जीव को चिन्ता-रूप में सर्वदा जलाया करते हैं।

संक्षेप में 'अब्धि-मध्ये' अर्थात् भव वा संसार-रूपी सागर में भी सर्व-व्यापकत्व भाव से अवस्थिता हो विश्व अर्थात् समस्त जीवों की रक्षा करती हो। यहाँ पर 'परिपासि' पद रहस्य-मय है। 'परि' अर्थात् 'परितः' का अर्थ है सब प्रकार से, 'पासि' अर्थात् पालन करती हो। एक अर्थ तो है जैसा ऊपर कहा गया है। दूसरा अर्थ है कि पूर्वोक्त प्रकारों में यह विश्व-भाव का पालन करती है अर्थात् अपनी सर्व-व्यापिका सत्ता को चरितार्थ करती है।

इससे हमको ऐसा शिक्षण मिलता है कि हम ऐसा अर्थात् भगवती को सर्व-व्यापकता समझकर अर्थात् इस भाव में दृढ़ विश्वास-रखकर भगवती को अपनी रक्षा करनेवाली समझें। ऐसा करने से हमारी यथार्थ रक्षा होगी। तीनों प्रकारों से रक्षा होगी अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और पर-प्रकारों से। इसमें सन्देह नहीं।

अन्य भावों की धारणा में, रक्षण में विलम्ब होता है। पर घट-घट-व्यापक भाव में नहीं। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त है। द्रौपदी ने द्वारिका-वासी कहकर इस महा-शक्ति के कृष्ण-रूप का रक्षार्थ स्मरण किया था। इसी हेतु इसको आने में विलम्ब हुआ। अन्यथा शरीरस्था महा-शक्ति के स्मरण करने पर इतना भी विलम्ब न होता। यही क्या, ऐसा भाव रहने से रक्षा की आवश्यकता ही नहीं है, कारण विपदाएँ तो ऐसे तादात्म्य-भावापन्न महान् व्यक्तियों से कोसों दूर रहती हैं। पास फटकने की हिम्मत नहीं।

> विश्वेश्वरि त्वं परिपासि विश्वं,
> विश्वात्मिका धारयसीति विश्वम्।
> विश्वेश-वन्द्या भवती भवन्ति,
> विश्वाश्रया ये त्वयि भक्ति-नम्राः ॥ ३३ ॥

टीका—तुम विश्व की ईश्वरी वा स्वामिनी (होने से) विश्व का सब प्रकार से पालन करती हो। विश्व शरीर (होने से) विश्व की धारणा करती हो। आप विश्व के ईशों की वन्द्या हैं। तुममें जो भक्ति-पूवक विनम्र हैं, वे विश्व-जनों के आश्रय-स्वरूप हो जाते हैं।

व्याख्या—इस पद्य में कारण-कार्य की एकता, कारणों के कारण की सर्वोत्कृष्टता और इस परमा सत्ता के तादात्म्य का फल विश्वाश्रयता का प्रतिपादन है। यह विश्वात्मिका अर्थात् विश्व-रूपिणी भी है अर्थात् कार्य है और इस विश्व-रूपी कार्य की ईश्वरी अर्थात् कारण भी है—'कारणात् कार्य-वैचित्र्यं तेन नात्रास्ति किंचन। यादृशं कारणं शुद्धं कार्यं तादृगिति स्थितम्'—योग-वाशिष्ठ उ० प्र० ३।२७।

यह विश्व-व्यापिनी सत्ता के रूप में विश्व-नियम का सब तरह से पालन करती है। यद्वा विश्व-जीवों को स्थिति पालन वायु, अन्न, जलादि-रूपों से पालन करती है। फिर सर्व-भूतों के अन्तर में रहनेवाली प्राण-सत्ता के रूप में विश्व की स्थिति को 'कायम' रखती है। इस प्राण-सत्ता से रहित पदार्थ का अस्तित्व नहीं है। यथा कथित निष्प्राण पदार्थों यथा पत्थर, मिट्टी आदि में भी यह प्राण-सत्ता है, जिस कारण से इन 'प्राण-हीन' पदार्थों की स्थिति है।

'विश्वेश' पद से ब्रह्मा आदि त्रि-देव यद्वा पञ्च-देव रूपी इच्छादि महा-शक्तियों का बोध है। 'विश्वेश-वन्द्या' पद का पर्यायवाचक पद है 'पराणां परमां', जिसका उल्लेख रात्रि-सूक्त में है। वस्तुतः धर्म-शक्ति की वन्द्या धर्मी-शक्ति है क्योंकि इन धर्म-शक्तियों की स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। यद्यपि सूक्ष्म-दृष्टया इन दोनों में अर्थात् धर्मी और धर्म-शक्तियों में भेद नहीं है, जिससे वन्द्य और वन्दक का प्रश्न ही नहीं आता है तथापि स्थूल दृष्टि से भी बोध है कि ये धर्म-शक्तियाँ इसी एक धर्मी-शक्ति की वन्दना अर्थात् चिन्तन वा मनन करती हैं, जिससे विभूति प्राप्त कर अपने-अपने कर्म-सम्पादन में क्षम होती हैं। इससे हमको भी यह शिक्षा मिलती है कि हम भी इसके पर्याप्त मात्रा में मनन करने से विश्वेश वा विश्वाश्रय की पदवी प्राप्त कर सकते हैं। यह भगवती जिसको चाहे ईश की पदवी अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि के पद पर स्थापित कर सकती है और करती है।

देवी-सूक्त में यह स्वयं कहती है—'यं यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्'। 'कामये' अर्थात चाहूँ का यह भाव नहीं है कि अन्धा-

धुन्ध चाहूँ। भक्ति-योग द्वारा नम्र एकीकृत महान् आत्माएँ अर्थात् स्वरूप-ज्ञाता ही विश्व के आश्रय हो सकते हैं। इससे कर्म-योग और ज्ञान-योग से भक्ति-योग श्रेष्ठ है, ऐसा बोध है। वस्तुतः यह सत्य है। तभी तो भगवान् कृष्ण ने भक्त-प्रवर अर्जुन से कहा है कि 'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। (कर्म-ज्ञान-यागाभ्यां) शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि (ज्ञातवानसि) मां यथा। भक्त्या त्वनन्यया शक्यहमेवं विधोऽर्जुन इत्यादि'—अध्याय ११

देवि प्रसीद परिपालय नोऽरि-भीते—
नित्यं यथासुर-वधादधुनैव सद्यः।
पापानि सर्व-जगतां प्रशमं नयाशु,
उत्पात-पाक-जनितांश्च महोपसर्गान् ॥ ३४ ॥

टीका—हे देवी ! प्रसन्न होओ। जिस प्रकार अभी-अभी असुरों का वध करके शत्रुओं से रक्षा की है, (उसी प्रकार) सर्वदा हम लोगों की शत्रुओं से रक्षा करो। (और) संसार के दुरितों का शीघ्र प्रशमन (शान्त) करो तथा पापों के परिणाम-स्वरूप उपद्रवों को शान्त करो।

व्याख्या—देवी से विजिगिषा-शीला अर्थात् अपने प्रतिद्वन्द्वी को परास्त करने की इच्छा रखने-वाली का बोध है। यह वह देवी वा आत्मिक शक्ति है, जो अनात्माकार-वृत्तियों की दमन करनेवाली है। इसको प्रकाश-शक्ति भी कहते हैं, जिसके सामने तमोरूप अज्ञान वा अविद्यात्मक अनात्मा-कार-वृत्तियाँ वा आसुरी सर्ग नहीं ठहर सकते।

इसकी प्रसन्नता से अर्थात् तादात्म्य से जिस प्रकार शुम्भ-निशुम्भादि द्योतित (बोधित) आसुरी सर्गों का नाश हुआ है, उसी प्रकार भविष्य में भी करने की प्रार्थना है। यहाँ पर यह ध्यान में रखना उचित है कि त्राहि-त्राहि की एक-दो बार पुकार से काम नहीं चलता है। पुकार हो तो ऐसी कि जिससे प्राण-शक्ति चैतन्य हो अपना कर्तव्य ठीक से करे। एक आवृत्ति इस श्लोक-मन्त्र की कर ली कि समझ गये कि काम हो गया ! यह भारी भ्रम है !

फिर जगत् के कल्याणार्थ 'सर्वे सन्तु निरामयाः' आदि शान्ति-प्रार्थना करने में योग्यता की आवश्यकता है। समष्टि-चिति को जगाने की अपेक्षा व्यष्टि-चिति को जगाना सरल है। उत्पातों की शान्ति के हेतु नव-चण्डी, शत-चण्डी क्या सहस्र-चण्डी यज्ञ भी करते हैं वा करवाते हैं। परन्तु उसकी सफलता के लिये जैसा चाहिये, वैसा भाव रख नहीं पाते। अतएव निरन्तर आर्त-भाव को जाग्रत् कर भगवती की प्रसन्नता के लिये सतत ध्यान रखना चाहिये। तब वांछित कल्याण की प्राप्ति होती है।

प्रणतानां प्रसीद त्वं देवि विश्वार्ति-हारिणि।
त्रैलोक्य-वासिनामीड्ये लोकानां वरदा भव ॥३५॥

टीका—विश्व—सारी सृष्टि की पीड़ा को दूर करनेवाली हे देवि ! तुम प्रणाम करनेवाले हम लोगों पर प्रसन्न होओ। तीनों लोक के निवासियों को तुम वर-दायिनी होओ।

श्री देवी-शक्ति

सम्पूर्ण सप्तशती में जिन तीन गूढ़ यौगिक क्रियाओं का उल्लेख विस्तृत रूप में है, उनकी परिव्यक्ति इसमें भगवती महाचिति ने की है। इन महा-वाक्यों का निष्कर्ष निकालना बड़ा दुरूह है। इनसे तमोगुण, रजोगुण और सत्व-गुण तीनों भावाश्रित कर्म सम्पादन हो सकते हैं। ये क्रियाएँ भक्ति, कर्म और ज्ञान के आधार पर की जा सकतो हैं।

इसकी यथार्थ उपयोगिता है इसके अनुसार सद्गुरु से सीखकर क्रिया-योग करने में। तथापि न करने से कुछ करना अच्छा है, इस सिद्धान्त के अनुसार पढ़ लेना भी श्रेयस्कर है, परन्तु ऐसा पशुओं अर्थात् बहिश्चक्षुवालों को हो शोभता है, न कि वीरों अर्थात् अन्तश्चक्षुवालों को। इनके निमित्त ही क्रिया-योग है और इसी क्रिया-योग को करने से शक्ति के साधक हो सकते हैं, अन्यथा कदापि नहीं।
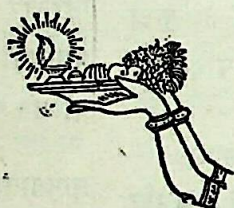
श्री देवी-शक्ति-व्याख्या

देव्युवाच ।। १ ।।

टीका—देवी ने कहा।

व्याख्या—अन्तःस्थित प्राण-शक्ति से तादात्म्य होने पर आदेश-ज्ञान होना ही देवी के वचन सुनना है।

वरदाहं सुर-गणा वरं यं मनसेच्छथ।
तं वृणुध्वं प्रयच्छामि देवानामुपकारकम् ।।२।

टीका—हे देव-गण ! मैं वर देनेवाली हूँ। जिस वर की इच्छा मन से करो, वह देव-गणों का उपकारी वर माँग लो, मैं दूँगी।

व्याख्या—जीव में असुरों अर्थात् आसुरी सर्गों का निपात हो गया है। अब जीव केवल दैवी भावाश्रित है। इसी हेतु वह देव हो गया। अतः 'सुर' पद से सम्बोधित होता है। इसके निमित्त वर को आवश्यकता नहीं रही। तब ? वर की आवश्यकता है अकृतोपासक जीवों के हेतु। निष्काम साधक जब कृतोपासक होकर सफलता प्राप्त कर लेता है अर्थात् सिद्ध हो जाता है, तो इसका साधन-फल ही विश्व-मङ्गल का साधन-स्वरूप होता है। परन्तु विशेषता एक है कि कृतोपासकों के सुहृत् ही इनके पुण्यों से लाभ उठा सकते हैं, इनके विद्वेषी नहीं। ऐसा श्रुति कहती है। इसी हेतु 'देवानामुपकारकं वरं' पद का प्रयोग है।

देवा ऊचुः ।। ३ ।।

टीका—देव-गण बोले।

व्याख्या—दैवी सर्ग-भावापन्न जीव-गण वर माँगने लगे।

सर्वं वाधा-प्रशमनं त्रैलोक्यस्याखिलेश्वरि।
एवमेतत्-त्वया कार्यमस्मद्-वैरि-विनाशनम् ।। ४ ।।

टीका—हे समस्त विश्व की स्वामिनी ! तीनों लोकों की सर्व प्रकार की वाधाओं का प्रकृष्ट रूप से दलन हो और ऐसा करो कि हम लोगों के वैरियों का विशेष प्रकार से नाश हो।

व्याख्या— 'अखिल' नाम सम्पूर्ण का है। इसकी स्वामिनी से प्रार्थना है कि सब प्रकार की बहिर्मुखी वृत्तियों को, जो आत्म-ज्ञान में वाधा-स्वरूप हैं, हटाओ और ऐसा करो कि हमारे शरीरस्थ काम-क्रोधादि षड्रिपुओं का नाश हो। यहाँ यह ध्यान में रखना उचित है कि यथार्थ वैरी ये ही हैं। अगर हम इनको जीत लें, तो विश्व को जीतने में विलम्ब नहीं रहता।

देव्युवाच ।। ५ ।।

टीका-देवी भगवती ने कहा।

व्याख्या-बोलने से तात्पर्य है रहस्योद्घाटन करने का। सम्पूर्ण सप्तशती में जिन तीन गूढ़ यौगिक क्रियाओं का उल्लेख विस्तृत रूप में है, उनकी परिव्यक्ति आगे के चौदह श्लोकों में भगवती महा-

चिति ने की है। इन महा-वाक्यों का निष्कर्ष निकालना बड़ा दुरूह है। इनसे तमोगुण, रजोगुण और सत्व-गुण तीनों भावाश्रित कर्म सम्पादन हो सकते हैं। ये क्रियाएँ भक्ति, कर्म और ज्ञान के आधार पर की जा सकती हैं। तात्पर्य कि प्रथम चरित से भक्ति-योगाश्रित क्रिया, द्वितीय चरित से कर्म-योगाश्रित और तृतीय चरित से ज्ञान-योगाश्रित क्रिया सम्पादित हो सकती है। तव असल बात यह है कि जिसके ये वाक्य हैं और जिसने इन तीनों क्रियाओं को समष्टि-भाव में करके दिखलाया है, वही यदि प्रसन्न होकर कृपा-भाव से सद्गुरु-रूप में प्रकट हो इनका शिक्षण दे, तो हमको इसका ज्ञान हो सकता है।

वैवस्वतेऽन्तरे प्राप्ते अष्टाविंशतमे युगे।
शुम्भो निशुम्भश्चैवान्यावुत्पत्स्येते महासुरौ ॥ ६ ॥
नन्द-गोप-गृहे जाता यशोदा-गर्भ-सम्भवा।
ततस्तौ नाशयिष्यामि विन्ध्याचल-निवासिनी ॥७॥

टीका—वैवस्वत नाम के मनु-अन्तर के अट्ठाइसवें युग में पुनः शुम्भ और निशुम्भ दो महासुर उत्पन्न होंगे। (तव) नन्द गोप के घर में यशोदा के गर्भ से जन्म लेकर इन दोनों का नाश विन्ध्य-पर्वत पर अवस्थित होकर करूँगी।

व्याख्या—आठ मनु होते हैं। इनमें सातवें मनु का नाम है 'वैवस्वत'। विवस्वान् सूर्य को कहते हैं। इनके अपत्य हैं वैवस्वत। 'विवस्वान' पद का अर्थ है विवः वाला अर्थात् विविध वस्तुओं का आच्छादन करनेवाला। इससे प्रकाश और अन्धकार दोनों का बोध होता है—प्रकाशार्थ में सूर्य और तमोऽर्थ में रात्रि। पूर्व-पक्ष में प्रकाश-मय मनु अर्थात् ज्ञानी का बोध होता है।

वैसे तो मनु और मनुष्य दोनों पद मन् धातु से, जिसका प्रयोग मनन व चिन्तन में होता है, बना है, परन्तु मनु और मनुष्य में भेद है। समष्टि-चैतन्यात्मक को मनु कहते हैं और व्यष्टि-चैतन्यात्मक को मनुष्य कहते हैं।

इस मनु के काल में अर्थात् विश्व की दीप्तावस्था में शुम्भ-निशुम्भ की उत्पत्ति होने पर अर्थात् प्रकाश के आच्छादित होने पर यह घटना घटी थी। पर-पक्ष में अज्ञान-रूपी अन्धकार से विश्व के आच्छादित होने पर यह घटना घटी थी, ऐसा बोध है। दोनों अर्थ युक्त हैं।

प्रकाश के अन्तर में अन्धकार-समय में आसुरी भावों की उत्पत्ति है और अन्धकार के मध्य में भी आसुरी सर्गों की उत्पत्ति है। यह जिस प्रकार समष्टि में चक्र-वत् होता रहता है अर्थात् प्रकाश के बाद अन्धकार और अन्धकार के बाद प्रकाश, जिसको सत्य-युगादि परिवर्तन कहते हैं, उसी प्रकार व्यष्टि में भी होता रहता है। समष्टि की अवस्था का 'असर' व्यष्टि पर तो पड़ता ही है, व्यष्टि की अपनी भी अवस्था इसी क्रम से बदलती रहती है। यथा समष्टि की दिवसावस्था में व्यष्टि की दिवसावस्था रहती है। फिर व्यष्टि को अपनी स्वतन्त्र दिवसावस्था है, जो समष्टि के साधारण नियम का व्यतिक्रमण कर सकती है अर्थात् व्यष्टि के हेतु समष्टि-रात्रि में भी दिवसावस्था है, जब जीव को सूर्य या दक्षिण पिंगला नाड़ी चलती रहती है। फिर जैसे आकाश-स्थित चन्द्र-सूर्य आदि को संक्रान्ति होती है, वैसे ही व्यष्टि में भी संक्रान्ति होती रहती है। हम बाह्यार्थानुसन्धानी इसको जानते नहीं हैं, यह दूसरी बात है। इसके ज्ञान को प्राप्त करने का उपदेश ब्रह्मर्षि अर्थात् ब्रह्मज्ञानी ने राम को

दिया था। उन्होंने कहा—

'हे निष्पाप! शरीर में सोम, सूर्य और अग्नि की संक्रान्ति अर्थात् मिलन वा संयोग के ज्ञानी होओ। (कारण) यही यथार्थ संक्रान्ति-समय है, बाह्य तो तृण-समान अर्थात् स्वल्प उपयोगी है।' निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्ध ८१।११८।

सक्षेप में यह तात्पर्य है कि जीव की सोम-शरीरावस्था में, जब यह शरीर जड़ात्मक तमोरूप हो जाता है, तभी शुम्भ और निशुम्भ-रूपी अहंकार और ममता-रूपी आसुरी सर्ग की उत्पत्ति होती है।

इसकी संहारिणी शक्ति (नन्दा-शक्ति) गोप अर्थात् मन (यहाँ मन से सङ्कल्प विकल्पात्मक अपर मन का नहीं वरन् पर-मन का, जो सङ्कल्प-विकल्प-रहित अर्थात् स्थिर है, बोध है), जिसका नाम नन्द अर्थात् ब्रह्माभिमुखी है, उससे अर्थात् मानसिक शक्ति से उत्पन्न होती है, जिससे आनन्दावस्था का बोध है। आसुरी भाव-द्वय के निधन का स्थान है 'विन्ध्याचल'।

विन्ध्याचल से भूत वा पार्थिव विन्ध्य-पर्वत का आशय नहीं है, वरन् जीव-शरीरस्थ विन्ध्य-अचल का अर्थ लेना चाहिये। विन्ध्य का अर्थ है विशेष रूप से दीप्त वा प्रकाशित स्थान। यह स्थान शरीरस्थ हृदव वा सम्वेदन-स्थान का द्योतक है। शास्त्रों में सुमेरु का द्योतक सहस्रार (मस्तक), विन्ध्य का द्योतक हृदय (अनाहत) और कुल-पर्वत का द्योतक मूलाधार-चक्र कहा गया है।

अतः भाव यह निकला कि प्राण या कुण्डली-शक्ति जब सम्वर्धित होकर अनाहत चक्र में पहुँचती है, तब इस आसुरी सर्ग-द्वय का नाश होता है।

पुनरप्यति-रौद्रेण रूपेण पृथ्वी-तले।
अवतीर्य हनिष्यामि वैप्रचित्ताश्च दानवान्॥ ८॥

भक्षयन्त्याश्च तानुग्रान् वैप्रचित्तान् महासुरान्।
रक्ता दन्ता भविष्यन्ति दाड़िमी-कुसुमोपमाः॥९॥
ततो मां देवताः स्वर्गे मर्त्य-लोके च मानवाः।
स्तुवन्तो व्याहरिष्यन्ति सततं रक्त-दन्तिकाम्॥१०॥

टीका—फिर (अपने स्थान से) पृथ्वी पर उतर कर अति भयानक रूप से विप्रचित्त नाम के दानव की सन्तानों को मारूँगी। उन उग्र वा भयानक महा असुरों का भक्षण करने से मेरे दाँत अनार के फूल जैसे लाल हो जाएँगे। तब स्वर्ग में देव-गण और मर्त्यलोक में मानव-गण स्तवन करते हुये (मुझको) सर्वदा रक्त-दन्तिका कहेंगे।

व्याख्या—पूर्व पद में प्राण-शक्ति द्वारा महा-असुर-द्वय के वध का वर्णन है। इस पद्य में इसी शक्ति ने अनाहत चक्र से मूलाधार (पृथ्वी-तल) चक्र पर उतर कर प्रकृष्ट ज्ञान के शेष विरोधी सर्गों का वध किया है।

विप्रचित्ति नाम का एक दानव था। यह कश्यप की तीसरी स्त्री से उत्पन्न हुआ था। ऐसी रूपकच्छलात्मक पौराणिक कथा है। हरिवंश में भी इसकी कथा है परन्तु इसका राहस्यिक अर्थ है प्रचिति अर्थात् प्रकृष्ट चेतना वा ज्ञान का विरोधी। इसी प्रकृष्ट ज्ञान-प्राप्ति के विरोधी आसुरी भावों को वैप्रचित्त-दानव कहते हैं (न कि विप्र अर्थात् वेद-विद् के चित्त से उत्पन्न भावों को, जैसा कि श्री सत्यदेव जी ने अपनी पुस्तक 'साधन-समर' वा देवी-माहात्म्य में लिख मारा है! यह तो साधारण बुद्धि-गम्य है कि वेद-वित् विप्रों के चित्त से आसुरी भाव उत्पन्न नहीं हो सकते। जगदम्बा अर्थात् प्राण-महाशक्ति वेद-विदों के पवित्र भावों को बढ़ाएगी कि मारेगी? यह महाशय इस सम्बन्ध में अद्भुत व्याख्या करते हैं। आपका कहना है कि

योगी-गण विश्व-मङ्गल के हेतु जो अभिनव कर्माशय का गठन वा सङ्गठन करते हैं, उसको भी विप्रचित्त कह सकते हैं। इसको उनकी अर्थात् व्याख्याकार की 'मां' मारती है। कैसी सुन्दर व्याख्या है ! एक तरफ तो 'मा' विश्व की भलाई के हेतु वर प्रदान करती है, फिर भी 'विश्व-हित' वा 'लोकैषणा' को—ये दोनों पद सत्यदेव जी के हैं—'मां' मारती है) ।

समूल नाश के हेतु इस सम्वर्धित प्राण-शक्ति को पृथ्वी-तल अर्थात् मूलाधार-चक्र में उतरना पड़ता है और अवशिष्ट आसुरी सर्गों का नाश करना पड़ता है। इस अवस्था में इस प्राण-शक्ति का रूप उग्र हो जाता है। इसी से कराल-वदना कही जाती है।

अव इस नन्दा प्राण-शक्ति की संज्ञा वदल जाती है। इसकी संज्ञा रक्त-दन्तिका हो जाती है। इसका दार्शनिक अर्थ है रजोगुण का दमन करनेवाली। रक्त रजोगुणात्मक रागादि भावों का द्योतक है। और दन्ता का अर्थ है दमन करनेवाली।

भूयश्च शत-वार्षिक्यामनावृष्टचामनम्भसि ।
मुनिभिः संस्तुता भूमौ सम्भविष्याम्ययानिजा ॥११॥
ततः शतेन नेत्राणां निरीक्षिष्यामि यन्मुनीन् ।
कार्तयिष्यन्ति मनुजाः शताक्षीमिति मां ततः ॥१२॥

टीका—फिर, जव शत-वर्ष-व्यापी अनावृष्टि से पृथ्वी निर्जल हो जायेगी, तव मुनि-गण के स्तुति करने पर अयानिजा अर्थात् आप-से-आप आविर्भूत होऊँगी। तव मुनियों को सौ नेत्रों से देखने के कारण लोग मुझे शताक्षी अर्थात् सौ नेत्रवाली कहेंगे।

व्याख्या—इस पद में रूपकच्छलात्मक वचनों में शत-वर्षीय देवासुर-संग्राम से पृथ्वी के जल-रहित अर्थात् आनन्द-मय परमात्म-रस से रहित होने पर भगवती के प्रादुर्भाव का उल्लेख है। तात्पर्य भगवती के महिष-मर्दिनी रूप के पुनः प्रादुर्भाव का उल्लेख है। यह अयुक्त नहीं है। महिषासुर का वध तीन वार हुआ है। इसका उल्लेख शास्त्र में मलता है। इससे हमको जानना चाहिये कि आसुरी सर्गों की उत्पत्ति और विनाश अनिवार्य होने के कारण विश्व वा पिण्ड की स्थिति तक वार-वार चलता ही रहता है।

संक्षेप में उक्त दो पद्यों का यह तात्पर्य है कि जीव की शत-वार्षिकी आयु में अनावृष्टि होने पर अर्थात् सहस्रार-स्थित अमा-कला से अमृत-स्राव के सूर्य-मण्डल में शोषित हो पृथ्वी-तत्व वा मूलाधार पर अमृत-धारा न आने पर मुनि-जनों अर्थात् मनन-कर्त्ताओं-द्वारा संस्तुता अर्थात् प्राण-शक्ति की सर्वज्ञता के ज्ञान से सम्वर्धित प्राण-शक्ति क्रिया-शक्ति-स्वरूपा होकर भूमि या मूलाधार-चक्र में स्वयंभू-लिङ्ग-वेष्टिनी शक्ति के रूप में अपने आप सम्यक् प्रकार से जन्म लेगी अर्थात चैतन्य होगी। इस स्वरूप में मनुज अर्थात् ज्ञानोद्भासित जीव इसको विश्वतश्चक्षु समझ इसे 'शताक्षी' संज्ञा देंगे। तात्पर्य कि उक्त ज्ञान-योग से मनुज दिव्य दृष्टिवाले हो जाएँगे।

ततोऽहमखिलं लोकमात्म-देह-समुद्भवैः ।
भरिष्यामि सुराः शाकैरावृष्टेः प्राण-धारकैः ॥१३॥
शाकम्भरीति विख्यातिं तदा यास्याम्यहं भुवि ।

टीका—तव हे सुराः, मैं स्व-शरीर से उत्पन्न प्राण-धारक शाकों से, जव तक वृष्टि वा वर्षा न

होगी, तब तक समस्त जीवों का पालन करूँगी। तब मैं पृथ्वी-तल पर शाकम्भरी के नाम से विशिष्ट रूप से ख्यात होऊँगी।

व्याख्या—इस पद्य में यह उल्लेख है कि समष्टि वा व्यष्टि में जब तक सुधा-धारा की वर्षा पृथ्वी-तल वा मूलाधार-चक्र तक न पहुँचकर तारों का अन्त नहीं कर देती, तब तक प्राण-शक्ति की प्राण-धारक शक्ति अर्थात् शक्ति जीव को प्राण-रहित होने से बचायेगी और बचाती है। इसी हेतु यह प्राण-शक्ति 'शाकम्भरा' अर्थात् शक्ति भरनेवाली कहलायेगी या कहलाती है। कैसी अच्छी उपमा है। हम दरिद्र, जिनको अन्न नहीं जुटता, कहा करते हैं कि प्राण-धारण का एक उपाय शाक-सब्जी है। यह भी न मिले, तो शरीर से प्राण का विच्छेद ही हो जाय। इसी प्रकार प्राण-योग-क्रिया के साधन से विहीन हम लोगों को प्राण-महा-शक्ति की उप-शक्तियाँ ही एकदम प्राण-शक्ति-रहित होने से बचाती हैं। यह प्रक्रिया तब तक होती रहती है, जब तक हम चञ्चल प्राण-शक्ति को पूर्ण-रूप से सम्वर्धित करते हुये सहस्रार की अमृत-धारा से सींचकर उसे अमर नहीं बना देते।

'शाक' पद शक्ति, सामर्थ्य, बल आदि का पर्यायवाचक है। स्मृति कहती है कि दश प्रकार के शाक (पत्र-पुष्प आदि) होते हैं। इनका अन्तस्तात्पर्य है दश इन्द्रियों की शक्ति से। जब तक मानसिक शक्ति 'विल पावर' वा प्राण-शक्ति बलवती नहीं हो पाती, तब तक इन दस इन्द्रियों की उप-शक्तियाँ ही प्राण रखने में समर्थ हैं।

इससे हमको यह शिक्षा मिलती है कि प्राण-क्रिया के पूर्व इन ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की ऐसी प्रक्रियाएँ हों, जिनसे हम प्राण-शक्ति की सम्वर्धिनी क्रिया में शक्त हो सकें। यही यथार्थ शाक्त-सिद्धान्त है।

तत्रैव च वधिष्यामि दुर्गमाख्यं महासुरम्।
दुर्गा-देवीति विख्यातं तन्मे नाम भविष्यति ॥१४॥

टीका—वहीं पर फिर (मैं) दुर्गम नाम के श्रेष्ठ असुर को मारूँगी। इसी हेतु 'दुर्गा देवी' मेरा नाम विख्यात होगा।

व्याख्या—साधक जब प्राण-शक्ति की उप-शक्तियों-द्वारा प्राण को स्थिर रखने में सक्षम होकर प्राण-शक्ति को पूर्ण रूप से सम्वर्धित कर लेता है, तभी यह प्राण-शक्ति दुर्गम नाम के बड़े असुर को मारती है अर्थात् सुषुम्ना-पथ की ग्रन्थि-त्रय-जन्य दुर्गमता को हटाती है अर्थात् षट्-चक्र-भेदन करती है। भेदन करनेवाली इसी शक्ति की संज्ञा 'दुर्गा' देवी अर्थात् शरीर-रूपी दुर्ग की प्रकाशित करने-वाली प्रकाश-शक्ति है।

पुनश्चाहं यदा भीमं रूपं कृत्वा हिमाचले।
रक्षांसि भक्षयिष्यामि मुनीनां त्राण-कारणात ।१५।
तदा मां मुनयः सर्वे स्तोष्यन्त्यानम्र-मूर्तयः।
भीमा-देवीति विख्यातं तन्मे नाम भविष्यति ॥१६॥

टीका—फिर मैं जब हिमाचल पर (अपने) शरीर को भयावह कर मुनियों की रक्षा के निमित्त राक्षसों को खाऊँगी, तब सब मुनि-गण सब प्रकार से नम्र हो मेरी स्तुति करेंगे। इस हेतु भीमा देवी के नाम से मैं विख्यात हो जाऊँगी।

व्याख्या—इस पद्य में प्राण-शक्ति के उस रूप का उल्लेख है, जिसमें यह अप्रधान आसुरी भावों का निःशेष रूप से नाश करती है। मुनियों अर्थात्

प्राण-शक्ति के मनन-कर्ताओं को रक्षा अर्थात् उनकी आत्माकार-वृत्तियों की रक्षा के निमित्त यह हिमालय अर्थात् मेरु-दण्ड जहाँ शेष होता है, उस आज्ञा-चक्र में, जो यथार्थ रूप में आसुरी सर्ग एवं इन्द्रियों की कुप्रवृत्ति-रूप सर्गों का विनाश-स्थान है, राक्षसों अर्थात् जिनसे आत्म-रक्षण करना होता है अर्थात् अनात्माकार-वृत्तियों को खाती है वा लय करती है। आज्ञा-चक्रतक जब प्राण-शक्ति (कुण्डली) जाती है, तब इसका रूप बड़ा उग्र अर्थात् तेजोमय हो जाता है। यह खेचरी-साधन से जानी जा सकनेवाली क्रिया है।

यदारुणाख्यस्त्रैलोक्ये महा-बाधां करिष्यति।
तदाहं भ्रामरं रूपं कृत्वाऽसंख्येय-षट्-पदम् ॥१७॥
त्रैलोक्यस्य हितार्थाय वधिष्यामि महासुरम्।
भ्रामरीति च मां लोकास्तदा स्तोष्यन्ति सर्वतः ।१८।

टीका– जब अरुण नाम का (असुर) त्रैलोक्य अर्थात् विश्व में बड़ी बाधा करेगा, तब मैं असंख्य भ्रमर-रूप होकर त्रैलोक्य-कल्याण के निमित्त (उक्त) बड़े असुर को मारूँगी। तब लोग मेरी सब जगह 'भ्रामरी' संज्ञा से स्तुति करेंगे।

व्याख्या—पूर्व पद्यों में विविध प्रकार के आसुरी सर्गों का दमन करनेवाली अर्थात् आवरण-रूप अविद्याओं को हटानेवाली विद्या वा यौगिक क्रियाओं का उल्लेख था। इस पद में विक्षेप-रूपी अरुण अर्थात् न जानेवाले विक्षेप भाव को दूर करनेवाली भ्रामरी-विद्या का उल्लेख है। इस विद्या के छः पैर हैं, जिससे छहों चक्रों का भेदन होता है। इस विद्या की सिद्धि से जीव भृङ्ग-वत् षट्-कमलों के पराग और रस का भक्षण कर अमर हो जाता है। इस विद्या से जीव का द्वि-पदत्व (द्वैत-भाव) हट जाता है और षट्-पद अर्थात् भ्रमर हो ब्रह्मानन्द-रस का पान करता है।

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरि-संक्षयम् ॥ १९ ॥

टीका—इस प्रकार से जब-जब दानव-कृत बाधा होगी, तब-तब मैं प्रकट होकर शत्रुओं का नाश करूँगी।

व्याख्या—इस पद में अकाट्य नियम की घोषणा है। यह नियम जिस प्रकार समष्टि में लागू है, उसी प्रकार व्यष्टि में भी। मनोविज्ञान भी ऐसा ही कहता है। यह प्रतिक्रिया-रूपिणी क्रिया है।

संक्षेप में हमको इससे यह शिक्षा मिलती है कि अपनी चञ्चल प्राण-शक्ति के क्षीण हो जाने पर प्राण-शक्ति-सम्वर्धिनी पूजा अर्थात् क्रिया-योग करें, जिससे हमारी अनात्माकार-वृत्तियाँ नष्ट हों।

यहाँ पर यह उल्लेख अप्रासङ्गिक न होगा कि समष्टचात्मक देवी वा शक्ति-माहात्म्य पढ़ लेने से ही यथार्थ रूप में काम नहीं चलता। इससे भविष्य कर्म-सम्पादन की भूमिका मात्र बनती है अर्थात् संस्कार का भी बीजारोपण मात्र होता है। इसकी यथार्थ उपयोगिता है इसके अनुसार सद्गुरु से सीखकर क्रिया-योग करने में। तथापि न करने से कुछ करना अच्छा है, इस सिद्धान्त के अनुसार पढ़ लेना भी श्रेयस्कर है, परन्तु ऐसा पशुओं अर्थात् बहिश्चक्षुवालों को ही शोभता है, न कि वीरों अर्थात् अन्तश्चक्षुवालों को। इनके निमित्त ही क्रिया-योग है और इसी क्रिया-योग को करने से शक्ति के साधक हो सकते हैं, अन्यथा कदापि नहीं।

॥ ॐ शन्नः कौलिकः श्री जगदम्बार्पणमस्तु ॥

देवी सूक्त

देवी सूक्त की टोका और उसकी दार्शनिक व्याख्या लिखने के पूर्व उत्तम (उत्तर) चरित के कथानक के आध्यात्मिक रहस्य का उल्लेख करना ठीक होगा। रहस्य का यह उल्लेख 'अन्ध-हस्ती-न्याय' के अनुसार है। इस कहावत की दन्त-कथा इस प्रकार है कि किसी गाँव में सब निवासी अन्धे ही थे। उस गाँव में एक बार एक हाथी आया। सभी उसकी आहट पा उसे जानने को दौड़ पड़े। देख सकते नहीं थे। अतएव हाथी को छूकर ही सबने अन्दाजा लगाया कि हाथी ऐसा होता है। हुआ यह कि सब लोग हाथो के सभी अङ्गों को एक साथ तो छू नहीं सके। किसी ने कोई अङ्ग छुआ, तो किसी ने कोई। जिसने पाँव छुआ, उसने हाथी को उखली के सदृश वतलाया; जिसने पूँछ छुई, उसने उसे रस्सी सदृश कहा और जिसने कान छुए उसने सूप के सदृश वताया। ऐसे ही सभो का एकांशिक भान हुआ। इसी प्रकार यह संसार अन्धा है। यहाँ रहनेवाले हम लोग क्या, देवलोक के देव-गण भी अन्धे हैं। तात्पर्य यह कि उस 'महतो महीयान' और 'अणोरणीयान' अर्थात् बड़े-से-बड़े और सूक्ष्मातिसूक्ष्म का पूर्ण परिचय पाने में सभी सर्वथा असमर्थ हैं। सर्वज्ञ केवल वही है। वही अपने को पूर्ण रूप से जानता है। उसकी लीला के रहस्य का ज्ञान महान्-से-महान् व्यक्ति को भी नहीं हो सकता। इस अवस्था में मुझ-सा अकिञ्चन और अल्पज्ञ क्या कह सकता है! तथापि अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार उसके मनन-स्वरूप देवी-सूक्त का तात्पर्य और उससे सम्बद्ध उत्तम चरित का दार्शनिक रूप संक्षेप में लिखता हूँ। आशा है, विज्ञ पाठक-मण्डली त्रुटियों की गणना न कर यत्किञ्चित् उपयोगी सार-भाग को ग्रहण करेगी।

'देवी' शब्द के अनेक तात्पर्य हैं। देवी शब्द दिव् धातु से बना है। इसका प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है। दिव् क्रीड़ायां—अर्थात् दिव् का अर्थ क्रीड़ा होने से देवी का शब्दार्थ 'क्रीड़ा-शीला' वा 'लीला-मयी' है। 'देवयति' जब रूप होता है, तब अन्तः-प्रेरिका अर्थ लिया जाता है। इसी प्रकार इसके अर्थ द्योतन-शीला, विजिगीषा-शीला, व्यवहार-चतुरा इत्यादि हैं।

'सूक्त' का अर्थ प्रतिपादक वाक्य-समूह है। देवी-सूक्त में देवी अर्थात् शक्ति-ब्रह्म के रूप का प्रतिपादन है, यथा पुरुष-सूक्त में पुराण-पुरुष ब्रह्म के रूप का है। ऐसे ही अनेक सूक्त हैं। देवी परा-शक्ति के कई सूक्त हैं। वैदिक दूसरा है। स्मार्त्त भी जो प्रकृत विषय है, दो हैं। इनके अतिरिक्त पर-देवी-सूक्त और तान्त्रिक देवी-सूक्त हैं, किन्तु साधारणतया दो ही मुख्य हैं। एक प्रस्तुत सूक्त और दूसरा वैदिक, जिसकी ऋषिका अम्भृण महर्षि की पुत्री ब्रह्म-विदुषी वाक् नाम की वागम्भृणी हैं। इस वैदिक देवी-सूक्त के पाठ के अधिकारी वेद-स्वर के ज्ञाता ही हैं। इसी हेतु जन-साधारण के निमित्त स्मार्त्त देवी-सूक्त का ही पाठ विहित है।

जिस प्रकार रात्रि-सूक्त (स्मार्त्त) के ऋषि (प्रथम उपासक) ब्रह्मा हैं, उसी प्रकार इस सूक्त

के ऋषि इन्द्रादि देव गण हैं। इन्होंने शुम्भ और निशुम्भ नाम के असुर-द्वय द्वारा अधिकारों के छिन जाने पर परा-शक्ति की जो स्तुति की थी, उसी को देवी-सूक्त कहते हैं। इससे सम्बद्ध कथानक का दार्शनिक तात्पर्य निम्न प्रकार है—

कल्पान्त में जब जगत् का लय होने को था, तब समस्त संसार में तमोगुण की प्रधानता हो गयी। मनुष्यों (भू-लोक) की क्या कथा, देव-गण (स्वर्लोक) भी इससे पराभूत हो गये। दिक्-पाल अपने-अपने कर्तव्यों से च्युत हो गये। इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीनों शक्तियों के प्रतिनिधि ब्रह्मा, विष्ण और रुद्र निष्क्रिय हो गये।

मध्यम चरित में अर्थात् खण्ड-प्रलय में केवल इच्छा-शक्ति ही निष्क्रिय हुई थी। इसी हेतु दैवी सम्पदायें इच्छा-शक्ति को ले ज्ञान और क्रिया-शक्ति-द्वय अर्थात् विष्ण और रुद्र के निकट गईं, जिससे ज्ञान-शक्ति के नेतृत्व में सभी दैवी सम्पदाओं के एकत्र शक्ति-पुञ्ज का महिषमर्दिनी भद्रकाली के रूप में आविर्भाव हुआ। इसी एकत्र शक्ति-पुञ्ज से आसुरी सम्पदाओं और इनके नेता मोह-रूपी महिषासुर का नाश हुआ। परन्तु इस समय में चित्-परा-शक्ति की इच्छादि तीनों प्रधान शक्तियाँ निष्क्रिय हो रही थीं। इसी हेतु मूल प्रकाश-शक्ति की स्तुति वा चिन्तन किया गया। इसका यह परिणाम हुआ कि प्रकाश-शक्ति वा ज्ञान-शक्ति स्वयं आविर्भूत हुई और अज्ञान के समस्त सर्गों का नाश कर उसने जगत् को पुनः सुचारु रूप से नियन्त्रित कर दिया। इन्हीं तमोगुणात्मक आसुरी सर्गों के द्योतक शुम्भ, निशुम्भ आदि सातों असुर हैं। यथा—

१ शुम्भ (शुम्भ-हिंसायां भावे घञ्)—अहंकार को श्रुतियों ने आत्मा को मारनेवाला आसुरी सर्ग कहा है।

२ निशुम्भ—ममता। अहंकार और ममत्व दोनों सहोदर हैं, कारण एक ही 'असमत्'-शब्द से बने हैं।

३ रक्त-बीज—काम। रक्त अनुराग का द्योतक है। "रज्यते अनेन इति रागः कामः। रक्तमनुरागः अस्य बीजं कारणम् इति रक्त-बीजः।" काम और मनोरथ एक ही वस्तु हैं। "मनोरथाणां न समाप्ति-रस्ति" अर्थात् मनोरथ की सीमा वा अन्त नहीं है। एक के बाद दूसरे, दूसरे के बाद तीसरे एवं प्रकार अनन्त मनोरथ होते हैं। इसी प्रकार रक्त-बीज आसुरी सर्ग का सङ्ग मिलने से फिर पूर्व-स्वरूपवत् होता था। रक्त-बीज के रक्त-बिन्दु का पृथिवी से संयोग होने पर वैसा ही बलवान् दूसरा असुर उत्पन्न होता था। गीता भी यही कहती है—"सङ्गात् सञ्जायते कामः।" यह तब तक नष्ट नहीं हुआ, जब तक कि इसका अधिष्ठान भूमि से विच्छेदन नहीं हुआ। इसी प्रकार राग वा काम का कारण सङ्ग मन-रूपी इन्द्रिय की सङ्कल्पात्मक वृत्ति से मूलतः नष्ट नहीं होता है।

४ धूम्र-लोचन—आलस्य। आलसी वा निष्कर्मियों की आँखें सर्वदा तेज-हीन, अलसायी धूम्र-सदृश होती हैं। किसी-किसी के मत से धूम्र-लोचन क्रोध का द्योतक है, परन्तु ऐसा सिद्धान्त अयुक्त है। आलस्य तमोगुणों में एक प्रधान गुण है। ऐसा गीता भी कहती है।

५ चण्ड—क्रोध। 'चडि कोपे'। इसका दूसरा तात्पर्य बल वा सामर्थ्य भी है। 'बल-सामर्थ्य-काम-रागादि-युक्तम्'।

६ मुण्ड—दर्प। यह हर्ष का विकार है, जो अन्त में धर्म का अतिक्रम अर्थात् धर्म की सीमा का लंघन करता है। "दर्पो नाम हर्षान्तर-भावी धर्म्मातिक्रम-हेतुः। हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्ममतिक्रामति"—शांकर भाष्य।

७ सुग्रीव—परिग्रह। इसका तात्पय सञ्चय मात्र से है अर्थात् सुकृत और दुष्कृत वा सुकर्म और दुष्कर्म दोनों के फल का संचय, परन्तु यहाँ तमो-गुण-प्रधान दुष्कर्म के फल-संचय से ही तात्पर्य है। यह किसी अवस्था में ममता-रूपी कारण का कार्य है।

इन सातों सर्गों के साधन-गण का अर्थात् सातों असुर-नायकों के अधीनस्थ सैन्य-गण का भगवती की ब्राह्मी, वैष्णवी, माहेश्वरी, इन्द्राणी, वाराही, नारसिंही और कौमारी-रूप सातों दैवी सम्पदाओं (देखिये गीता) ने नाश किया। चण्ड, मुण्ड का विनाश भद्रकाली-द्वारा हुआ और धूम्र-लोचन का हूँकार-रूपी शब्द-ब्रह्म के नाद-द्वारा (हूँ क्रोध-बीज है)। इससे प्रकट है कि 'विषस्य विषमौष-धम्" वत् क्रोध-द्वारा आलस्य का नाश होता है।

हम प्रत्यक्ष रूप से सांसारिक व्यवहार में भी देखते हैं कि क्रोध होने पर हमारा आलस्य दूर हो जाता है और एक प्रकार का स्फुरण शरीर में आ जाता है। रक्त-बीज का चामुण्डा ने सर्व-व्यापिनी जिह्वा वा लग्न-कारिणी शक्ति की सहायता से स्वयं वध कर फिर निशुम्भ को भी मारा। अन्त में शुम्भ को निरालम्ब-पुरी अर्थात् आकाश से ऊपर (निरा-लम्ब-पुरी विशुद्धाख्य चक्र से, जिसका तत्व आकाश है, ऊपर है। यह आज्ञा-चक्र से ऊपर मानस-चक्र और सोम-चक्र से भी ऊपर है) ले जाकर शक्ति-हीन कर (यह व्यष्टि में कुण्डली-योग-क्रिया है) पृथ्वी पर (मूलाधार-चक्र पर) ले आकर उसका नाश किया।

परात्म-रूपिणी चित्-शक्ति की इन क्रियाओं का समन्वय आत्मा की शक्ति-रूपिणी कुण्डली के आरोहण और अवरोहण-क्रियाओं के साथ होता है, जिनसे जीव के आसुरी सर्गों का नाश होकर जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त होती है अर्थात् जीव के जीव-भाव का नाश होकर शिव-भाव आता है। यही अहंकार वा शुम्भ के नाश का तात्पर्य है। अहंकार ही समस्त आसुरी सर्गों का मूल है। अतएव शुम्भ, जो अहंकार-मूर्त्ति था, आसुरी सर्गों वा असुरों का नेता था और परिग्रह-रूपी सुग्रीव का तिरस्कार ही होकर रह गया।

यह सर्ग अन्य प्रधान सर्गों के सदृश हनन-योग्य नहीं था। हनन व नाश तभी होता है, जब इसके नियन्त्रण का और कोई उपाय नहीं रहता। इसका दूसरा उपाय भगवती के शिव अर्थात् कल्याण की मूर्त्ति द्वारा शुम्भ को भेजे गये सन्देश से ज्ञात होता है। भगवती का संदेश था कि यदि जीवित रहना चाहते हो, तो पाताल में जाकर रहो—"यूयं प्रयात पातालं यदि जीवितुमिच्छथ।" तात्पर्य यह कि निष्क्रिय होकर रहो। अहंकार से ही प्रपञ्च है, परन्तु वह उचित मात्रा में होना चाहिए। परन्तु अहंकार की चरम मात्रा थी। इस हेतु समष्टि की दुष्टात्मा से इस प्रस्ताव की स्वीकृति नहीं हो सकी, जिससे वह समूल नष्ट किया गया। इसी प्रकार व्यष्टि में जब जीव सम्पूर्णतया दुर्दुष्ट हो जाता है, तो जीव का रूपान्तर अर्थात् शरीरान्तर हो जाना आवश्यक होता है। यही संक्षेप में तृतीय उत्तम चरित का आध्यात्मिक रहस्य है।

इस चरित की नायिका महा-सरस्वती साधा-

रणतया सत्व-गुण-स्वामिनी कही जाती है, जैसे कि महाकाली तमोगुण-स्वामिनी और महालक्ष्मी रजोगुण-स्वामिनी मानी जाती है। इन तीनों का समन्वय, हम त्रिपुरसन्दरी पञ्चदशी महा-विद्या के वाग्भव, काम और शक्ति इन तीनों कूटों से कर सकते हैं। सरस्वती का रहस्य-ज्ञान सरस्वती-रहस्योपनिषत् के मनन से होता है। सरस्वती अर्थात् वाक्-शक्ति वा विज्ञान-ब्रह्म सभी मुख्य महा-विद्याओं के एक-एक रूपान्तर की कल्पना है। यथा आद्या (काली) की अनिरुद्ध सरस्वती, द्वितीया महाविद्या की नील-सरस्वती और तृतीया महा-विद्या ललिता की वशिनी। संक्षेप में इसको चैतन्य परा-शक्ति कहते हैं। चैतन्य से यहाँ उपहित-चैतन्य से तात्पर्य है, अनुपहित चैतन्य से नहीं। कारण अनु-पहित चैतन्य कर्त्तृत्व-शक्ति-रहित होता है। इसी को तुरीयातीत ब्रह्म कहते हैं। उपहित चैतन्य तुरीय ब्रह्म है, जो मूल प्रकृति-सहित है।

महा-सरस्वती का प्रतिपादन स्मार्त्त वा पौराणिक कथानक के रूप में है। अतएव अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार ही इस सत्ता की धारणा है। किसी भी अवस्था में इसको विज्ञान-शक्ति कह सकते हैं। कारण जहाँ महाकाली के रूप में महाशक्ति अपना काम कर बिना कुछ कहे अन्तर्हित हो गई और जहाँ महालक्ष्मी वा भद्रकाली 'केवल "तथा" अर्थात् "तथाऽस्तु" कहकर अन्तर्ध्यान हो गई, वहाँ महा-सरस्वती वा विज्ञान-ब्रह्म-शक्ति वृहत् रूप के उपदेश-द्वारा जगत् को ज्ञान देकर ही अन्तर्हित हुई।

इस देवी-सूक्त का जितना ही मनन किया जाता है, उतना ही चित् और अचित् उभय परिणामिनी नित्या सत्ता परा-शक्ति का ज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान) होता है, जिससे पाप दूर होते हैं, अर्थात् अविद्या दूर होती है। इससे साधक भगवती का प्रीति-भाजन हो ऐहिक और आध्यात्मिक दोनों आनन्दों का अनुभव करता है। यह विशिष्टतया ज्ञान-मार्ग का साधन है जैसे कि प्रथम दोनों चरितों का मनन भक्ति और कर्म-मार्ग का साधन है, परन्तु तीनों का मूल भक्ति-योग ही है। कारण भक्ति से ही भक्ति-योग, कर्म-योग और ज्ञान-योग की सद्-बुद्धि प्राप्त होती है। इसी देवी-सूक्त के मनन और निदिध्यासन से समाधि वैश्य को ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति हुई थी।

देवी-सूक्त-व्याख्या

देवा ऊचुः ॥ १ ॥

टीका--देवताओं ने कहा।

व्याख्या—दैवी सम्पदा-सम्पन्न को 'देव' वा देवता कहते हैं। कहने का वाह्य तात्पर्य है परा शक्ति को स्तुति किन्तु अन्तस्तात्पर्य है चिन्तन अर्थात् मनन, जो समाधि वा ब्रह्म-ज्ञान की प्रथम भूमिका शुभेच्छा है और जो ज्ञान-योग में कर्मयोग-सदृश द्वितीय भूमिका है (श्रवण प्रथम भूमिका है)। मनन को ध्यान कहते हैं, जो पातञ्जल योग-दर्शन में ब्रह्म-ज्ञान समाधि की प्रथम भूमिका कहा गया है। इसी हेतु स्तुति का श्रौत अर्थ मौन है—"मौनं स्तुतिः" (मण्डल ब्राह्मण)।

नमो देव्यै महा-देव्यै शिवायै सततं नमः।
नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताः स्म ताम् ॥२॥

टीका—देवी को नमस्कार है। देवी, जो कल्याण-दायिनी महादेवी है, उसको सर्वदा नमस्कार है। प्रकृति-रूपिणी मंगल-दायिनी को नमस्कार है, (जिसके प्रति हम) नियत भाव से नम्र हैं।

व्याख्या--'देवी'-शब्द के कई अर्थ हैं किन्तु यहाँ प्रकाश-शक्ति से ही तात्पर्य युक्त है--"दिव्यति इति देवः। पुं योगे ङीप्।" किन्तु महा-देवी में देवी का 'देवयति' रूप युक्त है, कारण वह ब्रह्मादि वड़े-बड़े देवों की भी प्रेरिका शक्ति है। उसी हेतु 'महा' का विशेषण है। 'शिवा' (शिवयति इति-शिवः। पं योगे टाप्) का अर्थ है कल्याण वा मोक्ष का मूल कारण। 'सततम्' अर्थात् सर्वदा का तात्पर्य निरन्तर है। यह सजातीय निरन्तर प्रवाह अर्थात् अविच्छिन्न धारा का द्योतक है। छिन्न अर्थात् टूट जाने से समाधि अर्थात् ब्रह्मैकता नहीं हो सकती।

'प्रकृति' का साधारण अर्थ है सात्विक, राजस और तामस इन तीनों गुणों की साम्यावस्था। यही व्यक्त प्रकृति कही जाती है। परा प्रकृति अव्यक्त है। दूसरे तात्पर्य के अनुसार साधन-दशा में प्रत्यय से पूर्व-दशा को प्रकृति कहते हैं। स्फोट-निरूपण में लिखा है—"प्रकृतिः पार्वती साक्षात् प्रत्ययस्तु महेश्वरः। अर्द्ध-नारीश्वरः शब्दः काम-धुग् वः प्रसीदतु ॥" इस भाव में प्रकृति का अर्थ वाक्-शक्ति है।

'भद्रा' का तात्पर्य मङ्गला वा सर्व-मङ्गला है अर्थात् लौकिक (सांसारिक) एवं आध्यात्मिक सब प्रकार के कल्याण करनेवाली। "नियता' (नितरां यतायतेन्द्रियाः सन्तः) का अर्थ है चित्त का प्रणिधान रखनेवाला अर्थात् एकाग्र चित्तवाला वा अखण्डाकार-चित्त-वृत्ति-वाला।

'प्रणताः' (प्रकर्षेण नताः) का साधारण वा वाच्यार्थ नम्र है परन्तु लक्ष्यार्थ वा भावार्थ है अनन्य भाव से शरण में आये हुए से। नमस्कार के तात्पर्य भी कई हैं, जिनका आन्तरिक भाव एक ही है। वह है जीवाभिमान को त्याग कर ब्रह्म में अपने को सम्पूर्ण रूप से मिला देना।

'नमः' का भी एक शब्दार्थ यही है। न—नहीं, मः—जीव अर्थात् मैं जीव नहीं हूँ अर्थात् मैं ब्रह्म हूं। 'नमः' की बार-बार उक्ति अर्थात् पुनरुक्ति है। यह एक साहित्यिक दोष है परन्तु "क्वचिद्दोषो गुणायते" के सदृश यहाँ गुण-सूचक ही है। कारण यह असकृत् आवृत्ति का द्योतक है, जिसके बिना सजातीय प्रवाह की निरन्तरता नहीं रह सकती। इसी हेतु भगवान् बादरायण का "आवृत्तिस्सकृदु-पदेशात्" ब्रह्म-सूत्र है। यह अभ्यास का द्योतक है, जो मरण-पर्यन्त करना आवश्यक है—"आप्रा-यणात् तत्रापि हि दृष्टम्"——ब्रह्म-सूत्र। 'स्म' पाद-पूरक अव्यय मात्र है। इसका अर्थ है 'भवामः' अर्थात् होते हैं।

रौद्रायै नमो नित्यायै गौर्यै धात्र्यै नमो नमः।
ज्योत्स्नायै चेन्दु-रूपिण्यै सुखायै सततं नमः॥ ३॥

टीका——'रुद्र'-शक्ति को नमस्कार है। नित्या शक्ति को, गौरी शक्ति को और पालन करनेवाली शक्ति को नमस्कार है। सुख देनेवाली चन्द्रिका और चन्द्र-रूपो शक्ति को नमस्कार है।

व्याख्या—'रौद्र' भीष्म रस है—"रौद्रो भीष्मे रसे तीव्रे इति हैम-कोषः।" रस से ब्रह्म का भी बोध होता है—"रसो वै सः" श्रुति। रस के विशेषण भीष्म वा उग्र से भी (उग्र रौद्र को पर्य्यायवाचक संज्ञा है 'रौद्रस्तूग्र-पर्य्यायः"—अमर-कोष) ब्रह्म का बोध होता है, कारण उग्रता ब्रह्म का एक विशेष लक्षण है। श्रुति भी कहती है—

कस्मादुच्यते उग्रम्! यस्मात् स्व-महिम्ना सर्वान् लोकान् सर्वान् देवान् सर्वानात्मतः सर्वाणि भूतानि उद्-गृह्णात्यजस्रं सृजति विसृजति वास-यत्युद्ग्राह्यत उद्गृह्यते श्रुतं गर्तं सदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रं मृडाजरित्रे स्तुहि रुद्रस्तवानो अन्यन्ते अस्मन्निवपन्तु सेनाः तस्मादुच्यते उग्रमिति—नृसिंह-पूर्व-तापिन्युपनिषत्।

संक्षेप में तात्पर्य है कि ब्रह्म (उद्गृह्णाति इति उग्रः) सृजन करता है, (उद्ग्राह्यत) पालन (उद्गृह्यते) और संहार करता है। इसी से इसको उग्र कहते हैं।

'नित्या' के भी यहाँ दो तात्पर्य हैं। 'नियमेन भवा इति नित्या' के भाव में शृङ्खला-बद्ध क्रम से प्रकृति के सङ्कोच और विकोच (विकाश) वृत्ति से तात्पर्य है और "नित्यं स्यात् शाश्वते" अर्थात् तीनों कालों में (भूत, भविष्य और वर्त्तमान कालों में)। इस अभिधान से अजा (भूत में), सर्व-व्यापिनी (वर्त्तमान में) और अनन्ता (भविष्य में) तीनों विशेषणों से विशेषता शक्ति-ब्रह्म से तात्पर्य है।

'गौरी' का साधारण तात्पर्य शुक्ल-वर्ण से है—यह पूर्ण-शक्ति का द्योतक है। ऐसा श्रुति भी कहती है—"वर्णं शुक्लं तमो मिश्रं पूर्ण-बोध-करं स्वयम्"—पञ्च-ब्रह्मोपनिषत्। इसी हेतु पर-शिव के शुक्ल-वर्ण की कल्पना की गई है। इसका शब्दार्थ मन की प्रेरिका शक्ति है—"गूर्यते उद्युक्त मनोऽस्मिन्निति गौरः। गौरादित्वान् ङीप्"। इस भाव में यह गीतोक्त सब जीवों में रहनेवाले ईश्वर का द्योतक है—"ईश्वरः सर्व-भूतानां हृद्देशेऽर्ज्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्व-भूतानि यन्त्रारूढानि मायया।"

'धात्री' का साधारण अर्थ दाई वा उप-माता वा पोसनेवाली है, जिससे यहाँ भूमि वा पृथ्वी का तात्पर्य है, परन्तु इसका अन्तस्तात्पर्य प्राण-शक्ति से ही है। यह ब्रह्म के भूमाधिकरण से स्पष्ट होता है। इसका 'पृथिव्येव यस्यायतनम्'—छान्दोग्य० इत्यादि श्रुति-वचनों से बोध होता है।

'ज्योत्स्ना' अर्थात् चन्द्रिका वा चन्द्र की प्रकाश-

शक्ति से व्यक्ता प्रकृति से तात्पर्य है यद्वा ब्रह्म-बोधक चन्द्र की परंज्योति से तात्पर्य है। 'सुखा' विशेष्य और विशेषण दोनों है। विशेष्य-रूप में परमानन्द-दायिनी और विशेषण के रूप में सुख-दायिनी चन्द्रिका से तात्पर्य है।

कल्याण्यै प्रणतां वृद्ध्यै सिद्ध्यै कुर्मो नमो नमः।
नैर्ऋत्यै भूभृतां लक्ष्म्यै शर्वाण्यै ते नमो नमः ॥ ४ ॥

टीका—नीरोग करनेवाली तुझे नमस्कार है, उन्नति-कारिणी सिद्धियों को पुनः पुनः नमस्कार है; घृणा-रहिता (निर्गता ऋतिर्घृणा यस्याः सा निर्ऋतिः) को, पृथ्वी को धारण करनेवाली आधार-शक्तियों की लक्ष्मी को और संहार-शक्ति (शृणातीति शर्वः रुद्रः। शृ हिंसायाम्। शर्वस्य स्त्री शर्वाणी) को पुनः पुनः नमस्कार है।

व्याख्या—'कल्याणी' (कलयति सौख्यमिति कल्यं नैरुज्यम्) का अन्तस्तात्पर्य ब्रह्म-विद्या है, जिससे जीव का रोग—अविद्या दूर होकर जीव सुखी होता है। 'वृद्ध्यै' का तात्पर्य है उपचय-कारिणी अर्थात् आत्मा को उन्नति-कारिणी। यह सिद्धि का विशेषण है। कारण सिद्धियाँ दो प्रकार की हैं। एक आत्मोन्नति में बाधा करनेवाली और दूसरी आत्मा के अर्थात् ब्रह्म के अनुसन्धान में सहायता पहुंचानेवाली।

'नैर्ऋति' का साधारण अर्थ राक्षसी है, कारण निर्ऋति (दक्षिण-पश्चिम कोण की दिशा) में रहनेवाले राक्षस हैं। किन्तु यह वाच्यार्थ है, जो अग्राह्य है। इसका लक्ष्यार्थ घृणा-रहिता ही युक्त अर्थ है, कारण भगवती किसी से घृणा नहीं करती है। अधम-से-अधम पापी से भी नहीं। इसी हेतु इसका एक प्रधान विशेषण करुणा-मयी है।

पृथ्वी को धारण करनेवाले को 'भूभृतः' कहते हैं (भुवं बिभ्रति धारयति भूभृतः तेषां भूभृताम्)। वैसे तो पुराणों के कथानकों के अनुसार इसका तात्पर्य है शेषनाग, कच्छप, दश दिग्गजों से। परन्तु अन्तस्तात्पय है मूल प्रकृति आदि आधार-शक्तियों से। इन्हीं को 'लक्ष्मी' शक्ति अर्थात् द्योतन-शीला शक्ति है "लक्षयति विज्ञापयति इति लक्ष्मीः"।

पद्य के अन्त में 'शर्वाणी' का उल्लेख है। यह संहार वा लय-शक्ति है, जिसका स्थान चरम है और जो आदि अर्थात् सृष्टि की भी आदि (कारण) है। इसी हेतु शर्व महादेव का एक प्रधान नाम है। रुद्र और शर्व में भेद है। रुद्र से उग्र का बोध होता है परन्तु शर्व से सदाख्य-लयात्मक तत्व से तात्पर्य है। रुद्र अपर संहार-शक्तिमान् और शर्व पर-लय शक्ति-मान् का द्योतक है।

दुर्गायै दुर्ग-पाराय साराय सर्व-कारिण्यै।
ख्यात्यै तथैव कृष्णायै धूम्रायै सततं नमः ॥ ५ ॥

टीका—दुर्गा को, आपत् दूर करनेवाली को, असली सत्ता को, सब कुछ करनेवाली को, सत् और असत् ज्ञान को, काले और धूम्र रंगवाली को निरन्तर सर्वदा नमस्कार है।

व्याख्या—'दुर्गा' का वाच्यार्थ है दुःख से ज्ञात हो सकनेवाली। 'दुःखेन गम्यते ज्ञायते या सा' अर्थात् जिसका ज्ञान कठिनता से अर्थात् बहुत परिश्रम से हो, वही दुर्गा है। अतएव यह ब्रह्म-द्योतक है। 'दुर्ग-पारा' के अनेक अर्थ हैं। साधारण अर्थ है कठिनता को हटानेवाली अर्थात् दुःख दूर करनेवाली। यह दुःख किसी प्रकार का भी क्यों न हो अर्थात् भौतिक हो वा दैविक वा आत्मिक हो। 'दुर्गा' ब्रह्म-द्योतक है और 'दुर्ग-पारा' ब्रह्म-विद्या की।

'सार' का तात्पर्य है नित्य पदार्थ अर्थात् ब्रह्म के चार पादों में विद्या, आनन्द और तुरीय पाद। चतुर्थ पाद अविद्या (नाम और रूप) असार है, कारण यह अनित्य है। 'सर्व-कारिणी' से स्वतन्त्र शक्ति का बोध होता है। स्वतन्त्र ही सब कुछ कर सकता है, पर-तन्त्र नहीं। 'ख्याति' का अर्थ है अनुभूत ज्ञान। यह ख्याति दो प्रकार की है। एक सत् ख्याति और दूसरी असत् ख्याति। दूसरा मत है कि तीसरी अनिर्वचनीय ख्याति है, जो पूर्वोक्त दोनों से अन्यथा है।

'कृष्णा' से अजा का तात्पर्य है—'तस्मादजापदं श्यामाकार-ब्रह्म-परमिति रहस्यम्'—ब्रह्मसूत्र १।४।१० शक्ति-भाष्य। काली का व्यपदेश ब्रह्म पर ही है—'काल्यादि व्यपदेशश्च ब्रह्मण एव। काली सर्वेषां काल-स्वरूपा कृष्ण-वर्णा।' श्रुति भी कहती है—'ज्ञः काल-कालो गुणी सर्व-विद्यः'—श्वेताश्वतर ६।२।

'धूम्रा' से धूम्र (धूमं राति ददाति इति धूम्रः) शक्ति अर्थात् व्यक्ताव्यक्त-शक्ति का बोध होता है। साधारणतया यह धूमावती महाविद्या का द्योतक है। परन्तु यह महाकाल का, जिसका रंग धूम्र-वर्ण का है, द्योतक है। धूम्र कृष्ण और लाल का मिश्र वर्ण है। आदि में केवल कृष्ण वर्ण रहता है। इसको श्रुति असत् भी कहती है—'असद् वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सद् अजायत।'—तैत्तरीयोपनिषत् २।७। अथवा कृष्ण वा तमसावृत ब्रह्म को श्रुति ने न सत् और न असत्, ऐसा भी कहा है—'नासदासीत् नो सदासीत्।' इसी असत् वा तमोगुण में क्षोभ उत्पन्न होने से स्पन्दन होता है। तब रजोगुण का प्रादुर्भाव होता है, जिसके पश्चात् सत्व-गुण होता है। रक्त-वर्ण रजोगुण का द्योतक है, जैसे सत्व का द्योतक शुक्ल-वर्ण है। इसी काले और रक्त-वर्ण ब्रह्म की निष्क्रिय और क्रियात्मक अवस्थाओं की संयुक्तावस्था की द्योतक धूम्र-वर्ण काल की धर्मशक्ति है। इन दोनों में परम्परा-सम्बन्ध नहीं है किन्तु साक्षात् सम्बन्ध है। 'सततम्' से तीनों अवस्थाओं से तात्पर्य है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अर्थात् निद्रा—ये ही तीन अवस्थायें हैं। चतुर्थ अवस्था तुरीय में पदार्थ-ज्ञान का भाव नहीं होता है।

अति-सौम्याति-रौद्रायै नतास्तस्यै नमो नमः।
नमो जगत्प्रतिष्ठायै देव्यै कृत्यै नमो नमः॥ ६॥

टीका—बहुत ही सौम्य और बहुत ही रौद्ररूपिणी को पुनः पुनः नत हो नमस्कार करते हैं। जगत् को आधार-रूपा को नमस्कार है। व्यवहाररूपा और प्रयत्न-रूपा देवी को बार-बार नमस्कार है।

व्याख्या—'अति' से बड़ी (महती) वा असाधारण से तात्पर्य है। 'सौम्य' का एक अर्थ सुखद भी है। इस भाव में इसका अर्थ विद्या वा ब्रह्म-विद्या है, जिससे तीनों ताप अर्थात् आधि के दूर होने से जीव सुखी होता है। जिस प्रकार अग्नि में विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) होते हैं, वैसे ही ब्रह्म से असंख्य सौम्य-भाव उत्पन्न होते रहते हैं। ऐसा श्रुति भी कहती है—'तदेतत् सत्यम् यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद् विविधाः सौम्य-भावाः प्रजायन्ते'। किन्तु यहाँ सर्वोत्कृष्ट सौम्य सरूप से तात्पर्य है।

'रौद्र' का एक अर्थ दुःखद भी है। इस भाव में इसका अर्थ अविद्या है, जो प्रपञ्च का कारण है। 'सौम्या' और 'रौद्रा' इन दोनों परस्पर-विरुद्ध वाक्यद्वय से भगवती की सर्व-स्वरूपता का बोध होता है। इस सर्व-स्वरूपा का उल्लेख सप्तशती के ग्यारहवें

अध्याय में हुआ है। इन दोनों से भगवती चित् और अचित्-ब्रह्म वा उभय-परिणामिनी नित्या सत्ता है, ऐसा ज्ञान होता है।

'नताः' का तात्पर्य अनन्य-भाव अर्थात् अन्य, जो भेद-बुद्धि का द्योतक है, उस भाव को हटाना है—लीन हो जाना है। जगत् की प्रतिष्ठा से तात्पर्य है उस व्यापक सत्ता से, जिसमें तीनों लोक वा सब कुछ सन्निहित है। ऐसा श्रुति भी कहती है—'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्'—मुण्डक० २।२।५। व्यष्टि वा जीव में मूलाधार-चक्र-स्थित कुण्डली प्राण-शक्ति से तात्पर्य है। 'देवी' से यहाँ प्रकृति के विकाश-रूप से तात्पर्य है। 'कृतिः'—का अर्थ करण वा कार्य है। इसका अर्थ प्रयत्न-रूपा अर्थात् सर्ग-स्थिति-संहारात्मक कृति वा प्रयत्न-रूपा है।

या देवी सर्व-भूतेषु विष्णु-मायेति शब्दिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥ ७॥

टीका—लीला-मयी शक्ति को, जो ब्रह्म की माया-शक्ति कही गई है, बारम्बार नमस्कार है।

व्याख्या—'देवी' का यहाँ अर्थ है क्रीड़ा-मयी 'दिव् क्रीड़ायाम्।' क्रीड़ा वा लीला करनेवाली उपहित चैतन्य शक्ति है, न कि अनुपहित चैतन्य शक्ति जो द्रष्ट्री (देखनेवाली) मात्र है। अथवा रमण-शक्ति भी कह सकते हैं, जो समस्त जीवों में अर्थात् प्रत्येक जीव में रमण वा लीला वा क्रीड़ा (खेल) करती रहती है।

इसको 'विष्णु' अर्थात् ब्रह्म 'व्यपनात् विष्णुः' अर्थात् सर्व-व्यापक ब्रह्म की माया शक्ति कहा है। 'विष्णु-माया' से भिन्न सत्ता नहीं है, जैसा मायावादी सिद्धान्त है। यह सगुण ब्रह्मातिरिक्त-बोधक शब्द नहीं है। चित् और माया दोनों एक ही परा शक्ति के दो रूप हैं। एक निर्गुण और दूसरा सगुण। एक है सङ्कोचावस्था का द्योतक और दूसरा विकोचावस्था वा विकाशावस्था का। पूर्व का है निर्द्वन्द्व-रूप और पर का है विश्व-रूप। पहला है धर्मी-शक्ति-रूप, तो दूसरा है उसी का धर्म-शक्ति रूप। दोनों में भेदाभेद है, जो ज्ञाता वा अनुसन्धान-कर्ता के अपने दृष्टिकोण के अनुसार ही भासित होता है। विष्णु-माया को मूल-विद्या भी कहते हैं।

यह मूल-विद्या एक नहीं अनेक है। यहाँ इस सूक्त में तेइस प्रकार की कही गई है। कारण शेष भेदों को अनार्ष कहा जाता है। विष्णु-माया मूल-विद्या की प्रथम संज्ञा है। शेष बाइस भेदों का एक ही जगह तात्पर्य लिखना युक्त है।

प्रथम तीन नमस्कारों से कायिक, वाचिक और मानसिक नमस्कारों से तात्पर्य है। शेष दोनों का तात्पर्य निश्चयात्मक भाव से है। किसी वस्तु की द्विरावृत्ति अध्याय-समाप्ति-सूचक है अथवा निश्चयात्मक भाव-सूचक है। श्रुतियों में दोनों भावों में प्रचुर रूप से अन्तिम एक वा दो शब्दों के द्विरावृत्ति-प्रयोग देखने में आते हैं।

पूर्वोक्त तेइस रूप* ये हैं—(१) विष्णुमाया,

---

* चिदम्बर-संहिता आदि के आधार पर मैथिल-क्रम में इनकी संख्या पच्चीस है। इस क्रम में पूर्वोक्त तेइस के अतिरिक्त धृति और पुष्टि और हैं। शास्त्रों में मत-भेद सर्वत्र देखने में आता है। अतएव इसका एक उपाय है विश्वास—'भूयिष्ठं प्रामाण्यम्' 'मनः-पूतं समाचरेत्'। यह विश्वास वा मनः-पूत गुरु-जन के अनुसरण का कारण है। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' आदेश इसी हेतु है। संशय बड़ा अनिष्ट-कारक है। गुत्थियाँ सुलझाने का काम आचार्यों का है। हमें इन उलझनों में पड़ने से हानि के सिवा लाभ नहीं। आत्मा का ज्यों-ज्यों विकास होता है, त्यों-त्यों गुत्थियाँ आप-से-आप सुलझती जाती हैं।

(२) चेतना च (३) बुद्धिर्निद्रा (४-५) क्षुधा तथा। (६) छाया (७) शक्तिश्च (८) तृष्णा च (९) क्षान्तिर्जातिस्ततः (१०) परम्॥ (११) लज्जा (१२) शान्तिस्ततः (१३) श्रद्धा (१४) कान्तिर्लक्ष्मीस्ततः (१५) परम्। (१६) वृत्तिः (१७) स्मृतिर्दया (१८) चैव (१९) तुष्टिर्माता (२०) ततः परम्॥ (२१) भ्रान्तिर्व्याप्तिश्चितिश्चैव (२२-२३) त्रयो विंशति-संख्यका॥

१ विष्णुमाया—यथार्थतः विष्णु-माया अर्थात् वाक्-शक्ति प्रणवात्मिका अर्थात् स्पन्दनात्मिका अपर प्रणवात्मिका काल त्रयात्मिका सब जीवों में चारों प्रकार-स्वरूपा अनात्म-विषयों में आत्म-बुद्धि और आत्म-विषयों में अनात्म-बुद्धि अर्थात प्रपञ्च-कारण-रूप से शेष बाइसों से सम्बन्धित है। भाव यह कि विष्णु-माया के बाइस रूप मुख्य हैं, जो समान भाव से समष्टि वा ब्रह्माण्ड में और व्यष्टि वा पिण्डाण्ड वा प्रत्येक जीव में कार्य करती रहती है।

२ बुद्धि—'बुध्यतेऽनया इति बुद्धिः यथा विद्यतेऽनया इति विद्या' अर्थात् जिससे अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाय, उसी को बुद्धि वा विद्या कहते हैं। यहाँ ज्ञान देनेवाली वा बुद्धि देनेवाली ही बुद्धि कही गई है। अतएव स्पष्ट भाव-द्योतक पुनरुक्ति है। यह स्वप्नावस्था की द्योतक है। स्वप्न में बुद्धि सक्रिय रहती है, यद्यपि इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं।

३ निद्रा—'नियतं द्राणं निद्रा शयनम्' अथवा 'द्रा कुत्सायां गतौ, निपूर्वः।' तृतीय कोष वा मनोमय कोष में मन की अवस्थिति निद्रा है। यद्वा 'सर्वेन्द्रिय-व्यापार-विरत-प्राणानं सुखम् इति निद्रा' अर्थात् ग्यारहों इन्द्रियों की व्यापार-रहिता अवस्था निद्रा है। यह व्यष्टि में सुषुप्ति-अवस्था की और समष्टि में प्रलय-अवस्था की द्योतक है। व्यष्टि में यह जीव-रात्रि-रूपा है और समष्टि में काल-रात्रि-रूपा। प्रलय की परिभाषा है—अनन्त-शक्तिकस्य ब्रह्मणः स्वरूप-मात्रणे कश्चित् कालमवस्थानम् प्रलयः।

४ क्षुधा इसको बुभुक्षा कहते हैं अर्थात् भोग करने की इच्छा (भोक्तुमिच्छा क्षुत् स्त्रियां धान्तः क्षुत् शब्दः)। इससे पर-भोग और अपर-भोग दोनों प्रकार की इच्छाओं का बोध होता है। इसका साधारण वाच्यार्थ भूख वा भोजन करने की इच्छा है, परन्तु असली भूख परम सुख-भोग करने की ही है, जो इसका लक्ष्यार्थ है। परमानन्द-रस के चखने की इच्छा ही भूख वा क्षुधा है।

५ छाया—'छ्यति छिनत्ति सन्तापमिति छाया' अर्थात् सन्ताप को दूर करनेवाली को छाया कहते हैं। इसकी पर्याय-वाचक संज्ञा प्रतिबिम्ब है। छाया को प्रतिच्छाया कहते हैं। सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म की ही प्रतिच्छाया है और सगुण ब्रह्म की समष्टि की प्रतिच्छाया व्यष्टि है। इसी से तीनों में भेद नहीं है अर्थात् परात्मा, अन्तरात्मा और आत्मा इन तीनों में भेद नहीं है। छाया ही उसका जगद्-रूप है।

६ शक्ति—इसका अर्थ स्वभाव-सिद्ध धर्म है। वैसे शक्ति का अर्थ बल है, जो प्राण है 'तत् सत्यं बले प्रतिष्ठितं प्राणो वै बलम्'—बृहदारण्यक गायत्री ब्राह्मण ५।१४।४। शक्ति का अर्थ सामर्थ्य है—'शकनं शक्तिः सामर्थ्यम्।' यह वस्तु-गत स्वभाव-सिद्ध धर्म है। धर्म का अर्थ ही है बल, जिससे पदाथ की धारणा है—'ध्रियते अनेन इति धर्मः'। धर्म से ही धर्मी की स्थिति का बोध होता है। इसकी अनेक परिभाषायें हैं, जिनमें से चार का उल्लेख यहाँ करते हैं। इनसे शक्ति के भावार्थ का स्पष्टीकरण हो जाता है—

१--'शक्ति-प्रति-वस्तु-नियतार्थ--कारित्व--वस्तु धर्मः इति शन्तुनः' अर्थात् प्रत्येक वस्तु वा पदार्थ को नियत करनेवाले वस्तु-धर्म को शक्ति कहते हैं।

२—'वस्तु-स्वरूपमेव शक्तिः न तु वस्तुनोऽन्यो धर्मः शक्तिः—चतुर्भुजः' अर्थात् पदार्थ का स्वरूप ही शक्ति है, न कि पदार्थ के अन्य अर्थात् स्वरूप से अतिरिक्त धर्म।

३—'कार्य-जनन-सामर्थ्यमिति शक्तिः-नागेश' अर्थात् कार्य करने के सामर्थ्य वा वल को शक्ति कहते हैं।

४ -'शिवस्यात्म-स्वरूपेति शक्तिः—रामाश्रम' अर्थात् शिव वा कर्ता के कार्य करने का कारण ही शक्ति है।

अस्तु, यहाँ शक्ति का तात्पर्य चित्त को वहिर्मुखी वृत्ति है।

७ तृष्णा--तर्षण-बुद्धि अर्थात् उपभोग की इच्छा को तृष्णा कहते हैं। यह भो दो प्रकार की है एक अमृत-पान करने की प्यास (ञितृष् पिपासायां) और दूसरी विष-पान करने की। भगवती दोनों हैं, कारण सब जीवों को पर-तृष्णा वा अमृत-पान की ही अगर इच्छा रहे, तो प्रपञ्च-रूपी खेल ही नहीं हो सकता।

८ क्षान्ति—यह तितिक्षा-शक्ति है (क्षम् सहने') अर्थात् सहन-शक्ति। यह अपकारी के प्रति अनपकार करने की इच्छा है। प्रतिकूल वेदना के प्रति प्रत्युत उपेक्षा ही क्षान्ति है। क्षान्ति केवल क्षमा नहीं है--'अषितः क्षाम्यते क्षान्तिः षितस्तु क्षमते।' क्षमा (ष-कार अनुबन्ध से रहित क्षम् धातु जिसका वतमान-कालिक रूप क्षाम्यति है) में क्तिन् प्रत्यय लगने से 'क्षान्ति' रूप बना और ष-कार अनुबन्ध-युक्त क्षमूष् धातु में, जिसका 'क्षमति' रूप होता है अप् प्रत्यय होने से 'क्षमा' रूप वनता है।

९ जाति—इसका 'जायते इति जातिः' यह अर्थ है। 'जनी प्रादुर्भावे क्तिच्' के रूप में एक-गोत्रीय वा एक-वर्गीय जीवों के समुदाय की संज्ञा जाति है, यथा मनुष्य-जाति, गो-जाति इत्यादि। यह अनेक में एकाकार-साधन का लक्षण है और अनेक को एक में समवेत करनेवाली गुण-समूहा शक्ति की द्योतक है।

१० लज्जा—'लज्जनं लज्जा'। कर्त्तव्य को न करने और अकर्त्तव्य अर्थात् जो कर्तव्य नहीं है, उसको करने में दूसरों से अथवा स्वतः संकोच-मनोवृत्ति को लज्जा कहते हैं।

११ शान्ति—'शमनं शान्तिः'। विषय से निवृत्ति शान्ति है। क्रोधादि की अभावावस्था शान्ति है। नागेश की परिभाषा है—'विषयोपरतिः'। रामाश्रम की है--'अन्तरिन्द्रिय-निग्रहः'। किसी ने यह भी परिभाषा दी है--'विकृतेन्द्रिय-संयमः' अर्थात् इन्द्रियों के विकृत वा अकरणीय कार्यों का निग्रह, परन्तु संक्षेप में जीव का अहं-भाव सम्पूर्णतया नष्ट हो जाने से ही जो अवस्था आती है, वही शान्ति है। अखण्डाकार-वृत्ति का भी जब लय होता है, तब उस अवस्था को यथार्थ शान्ति कहते हैं। प्रशान्त का श्रौत लक्षण इस प्रकार है--'अन्ध-वत् पश्य रूपाणि शब्दं बधिर-वत् शृणु। काष्ठ-वत् पश्य वैदेहं प्रशान्तस्य लक्षणम्' (अमृत-नादोपनिषत्) अर्थात् जो अन्धे के सदृश रूपों को देखे, शब्द को बहरे के सदृश सुने और अपने शरीर को लकड़ी का बना माने, वही प्रशान्त है। इसी को जीवन्मुक्त कहते हैं अर्थात् शान्ति-वृत्ति ही जीवन्मुक्ति-दायिनी है।

१२ श्रद्धा--'श्रद्धनं श्रद्धा' शास्त्र और गुरु-जन-कथित वाक्यों में आस्तिकता-बुद्धि श्रद्धा है। श्रद्धा की परिभाषा है--'साम्मुख्याद्याति सम्प्राप्तिरर्थिनां

दर्शने दया। सत्कृतिश्चानसूया च सा श्रद्धा परिकीर्त्तिता' -देवल अर्थात् किसी वस्तु के प्रति प्रधान रूप से (वाद-विवादों को छोड़ कर एकाग्र मन से) अत्यन्त सम्प्राप्ति वा खिंचाव, दीनों को देखने पर जगी हुई दया, आदर-भाव और डाह न होना--यही श्रद्धा है। हैम-कोष—'श्रद्धास्तिवयेऽभिलाषे च'। किसी के मत से श्रद्धा साधारण अनुकम्पा वा दया है। पुनः किसी के मत से श्रद्धा सद्-विषयों की निरतिशय भावनाओं की अनुवृद्धि है। अतएव असद् विषय-भावना में अर्थात् अनात्माकार-वृत्ति-भावना में सहायक कुबुद्धि-रूपी विश्वास को श्रद्धा नहीं कह सकते। श्रद्धावान् ही कर्म-बन्धन से मुक्त होते हैं और सुखी होते हैं—'श्रद्धावन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः'--गीता ३।३१। श्रद्धा असंशयात्मिका बुद्धि है। इसी के प्रतिकूल संशयात्मिका बुद्धि से विनाश होता है—'संशयात्मा विनश्यति' (गीता)।

१३ कान्ति--'कमनं काम्यते वा कान्तिः'। कान्ति अर्थात् कमनीयता, शोभा, जिसकी पर्याय-वाचक संज्ञायें हैं द्युति और छवि—'शोभा कान्ति-र्द्युतिश्छविः'—अमर-कोष। कान्ति को स्वरूपोज्ज्वलता वा सुरूप का तेज़ कहते हैं। इसको विशिष्ट शब्दों में प्रकाश-शक्ति कहते हैं।

१४ लक्ष्मी—'लक्षयति पश्यति इति लक्ष्मीः' अर्थात् देखनेवाली को लक्ष्मी कहते हैं। 'लक्ष-दर्शनांकनयोः'। दूसरे प्रकार से--'लक्षयति विज्ञापयति इति लक्ष्मीः' अर्थात् ज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान वा पुरुषार्थ-चतुष्टय-ज्ञान) देनेवाली लक्ष्मी (ब्रह्म-विद्या) है। पूर्व-पक्ष में सर्व-व्यापिनी शक्ति और पर-पक्ष में ब्रह्म-विद्या व ब्रह्म-ज्ञापिका शक्ति से तात्पर्य है। 'विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्' तैत्तरीय ३।५ से भी यही तात्पर्य है कि लक्ष्मी विज्ञान-ब्रह्म है।

१५ वृत्ति--'वर्त्तनं वृत्तिः, वर्त्तते अनया वृत्ति-र्जीवनोपायः' जो जीवन को स्थिर रखे, वही वृत्ति है अर्थात् पदार्थ जिससे रहता है व पदार्थ की स्थिति का जिससे बोध होता है, वही वृत्ति-शक्ति है।

१६ स्मृति—'स्मृ आध्याने क्तिन्' स्मरण वा मेधा-शक्ति। यह स्मृति-शक्ति चैतन्य-शक्ति की सहकारिणी है। अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि इसी स्मृति-शक्ति की पूर्ण विकसित अवस्था को चैतन्य कहते हैं।

१७ दया—'दयते रक्षति अनया इति दया'। दया वृत्ति से ही रक्षण-क्रिया होती है, यही इसका मुख्य तात्पर्य है अन्यथा 'दय-दान-गति-हिंसा-रक्षणेषु' दया के अर्थ दान, गति, मारना और रक्षा है। अतएव पर-दुःख में सम वेदना-वृत्ति को दया कहते हैं। यह रक्षा का कारण है।

१८ तुष्टि—'तोषणं तुष्टिर्वा सन्तुष्टिः'। तुष्टि स्थित-प्रज्ञा है, जैसा गीता कहती है—'आत्म-न्येवात्मना तुष्टः। स्थित-प्रज्ञस्तदोच्यते'—२।५५। अर्थात् आत्मा में ही सब कुछ देखकर आत्मा प्रज्ञात्मा हो अर्थात् विशेष रूप से ज्ञानी हो स्थिर वा अचञ्चल होकर रह जाता है। इसी को आत्म-रति कहते हैं, जब आत्मा की शेष कर्त्तव्यता नहीं रह जाती है अर्थात् कर्तव्य पूर्ण हो जाता है और कुछ बाकी नहीं रह जाता है। यह ब्रह्म-विद्या की द्योतक है और अद्वैत-सिद्धान्त की प्रतिपत्ति है। इससे कर्मों से असंशक्ति-भाव उत्पन्न होता है।

१९ मातृ—'माति गर्भोऽस्यामिति वा मान्यते इति माता'। पूर्व-पक्ष के भाव में समष्टि मातृ-शक्ति और व्यष्टि मातृ-शक्ति से तात्पर्य है। पर-पक्ष में 'मान पूजायाम्' के भाव में आराधनीया महा-शक्ति है। 'सूते इति सवितृ' अर्थात् उत्पन्न

करनेवालों को माता कहते हैं। ब्रह्म का ही मातृत्व है, कारण ब्रह्म से ही प्राण, मन और सब इन्द्रियां उत्पन्न हुई हैं—'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।' पुनः 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'—श्रुति। यह समष्टि वा विश्व-मातृ-भाव निरपेक्ष-भेद से है और व्यष्टि वा जीव-मातृ-भाव सापेक्ष-भेद से है। इसको व्यष्टि में देहाधिष्ठात्री वर्णाभिमानिनी वर्गाष्टक-रूपा मातृका-शक्तियाँ भी कह सकते हैं। 'मान्ति ब्रह्म-परिवारत्वेन समाविशन्ति इति मातरः' अर्थात् ब्रह्म के परिवारत्व को प्राप्त करते हैं, अर्थात ब्रह्म के परिवार होते हैं वा ब्रह्म में परिणत होते हैं। संक्षेप में इसका यह तात्पर्य है कि समस्त प्रकृति में मातृ-रूपा अर्थात् कारण-रूपा शक्ति ही मातृ-शक्ति है।

२० भ्रान्ति—'भ्रमु चलने वा विचलने क्तिन्।' यह वस्तुओं का विजातीय अन्यथा भावना-ज्ञान है, जिसको अयथार्थ ज्ञान भी कहते हैं। यही अविद्या है। अविद्या प्रपञ्च का आधार भ्रान्ति है।

२१ व्याप्ति—

इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानां चाखिलेषु या।
भूतेषु सततं तस्यै व्याप्त्यै देव्यै नमो नमः ॥२८॥

टीका—जो समस्त जीवों की ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की अधिष्ठात्री अर्थात् प्रवृत्ति-कारण-रूपा सर्व-व्यापक शक्ति है, उसे निरन्तर रूप से सर्वदा बारम्बार नमस्कार है।

व्याख्या—'भूतेषु' में भूत से प्राणी वा जीव मात्र से तात्पर्य है और 'भूतानाम्' में भूत से पृथ्वी आदि पञ्च-तत्त्वों से तात्पर्य है। भूतों की इन्द्रियों से यह तात्पर्य है, जैसा श्रुति कहती है—'मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणेति य ईं शृणोत्युक्तम्' अर्थात् जो रसनेन्द्रिय से अन्न-रस ग्रहण करता है; जो प्राणेन्द्रिय द्वारा श्वास से गन्ध ग्रहण करता है, कर्णेन्द्रिय से शब्द ग्रहण करता है; वह सभी मेरे द्वारा ही कर पाता है अर्थात् मैं ही सब इन्द्रियों की अधिष्ठातृ वा कर्म करनेवाली हूं। दूसरा तात्पर्य 'भूतानाम् इन्द्रियाणामधिष्ठात्री' का यह है कि भगवती पृथ्वी आदि पञ्च-तत्त्वों की आधार-शक्ति है और जो समस्त भूतों में अर्थात् ब्रह्मा से लेकर तिर्यग् योनिवाले जीवों की ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की आधार-शक्ति वा प्रवर्तयित्री (प्रेरिका) शक्ति है। इसी हेतु वह 'व्याप्ति' अर्थात् सर्वव्यापिका कही गयी है। 'व्याप्त्यै देव्यै' दाक्षिणात्य पाठ है और 'व्याप्ति-देव्यै' गौड़ है। तात्पर्य एक ही है व्यापकता।

२२ चिति—

चिति-रूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥ २९॥

टीका—जो ज्ञान-शक्ति समस्त जगत् को व्याप्त कर वर्त्तमान रहती है, उसे बारम्बार नमस्कार है।

व्याख्या—'चयनं चितिः' अर्थात् अविकार वा अव्याकृता शक्ति है। अथवा दूसरा तात्पर्य है 'चितिः प्रत्यक् चैतन्यम्' अर्थात् ज्ञान। चैतन्य दो प्रकार का है एक अनुपहित अर्थात् निष्क्रिय और दूसरा उपहित वा सक्रिय। यहाँ दोनों से तात्पर्य है। ब्रह्म के दो स्वरूप हैं—एक साक्षी और दूसरा कर्त्ता, भोक्ता इत्यादि। चित-शक्ति दोनों हैं। चैतन्य से ही स्फुरता होती है, जो प्रत्येक अणु में रहती है। अतएव यह समस्त विश्व-व्यापिका है। चैतन्य के सम्बन्ध से ही सत्ता स्फुरती है अन्यथा विश्व का स्थिति 'शश-विषाण-वत्' हो जाती।

स्तुता सुरैः पूर्वमभीष्ट-संश्रया--
तथा सुरेन्द्रेण दिनेषु सेविता।
करोतु सा नः शुभ-हेतुरीश्वरी--
शुभानि भद्राण्यभिहन्तु चापदः ॥ ३० ॥

टीका--पहले जो मनोकामना की पूर्ति होने पर देव-गण और अवसर-अवसर पर देवराज इन्द्र-द्वारा (क्रमशः) वचन से और कल्पोक्त प्रकार से आराधिता हुई है, वह (हम लोगों की कल्याण करनेवाली) भगवती हमारा मङ्गल करे और आपदाओं को, जो अमङ्गलकारी हैं, दूर करे।

व्याख्या--'पूर्वं' का तात्पर्य महिषासुर के वध होने के समय से है, जब देवों की कामना की पूर्ति हुई थी। दाक्षिणात्य पाठ 'अभीष्ट-संश्रया' है। यह ईश्वरी का विशेषण है। दोनों का तात्पर्य एक ही है। 'दिनेषु' के तीन तात्पर्य हैं—पहला आश्विन शुक्ल नवमी आदि उपलक्षित दिनों में अर्थात् देवी-तिथियों में, दूसरा भौमादि विशेष देवी-दिवसों में और तीसरा प्रत्यह सब दिनों में। 'स्तुता' का तात्पर्य है वाणी द्वारा पूजिता और 'सेविता' का कल्पोक्त कायिक, वाचनिक और मानसिक रीति से आराधिता है। 'शुभानि भद्राणि' का तात्पर्य योग-क्षेम अर्थात् वह अभ्युदय है, जो अमङ्गल अर्थात् आत्मा का पतन करनेवाला नहीं किन्तु परम कल्याण-लक्ष्य का साधन है। 'आपद्' का साधारण वाच्यार्थ विरोध-जनित दुःख है, परन्तु वास्तविक तात्पर्य अनात्म-भावनाओं से अर्थात् दुःख-परिणामिनी भावनाओं से है। 'अभिहन्तु' (अभितः सर्वतः हन्तु नाशयतु) का तात्पर्य सभी ओर अर्थात् सब प्रकारों से दूर करना है।

या साम्प्रतं चोद्धत-दैत्य-तापितै--
रस्माभिरीशा च सुरैर्नमस्यते।
या च स्मृता तत्क्षणमेव हन्ति नः
सर्वापदो भक्ति-विनम्र-मूर्तिभिः ॥ ३१ ॥

टीका--जो ईश्वरी अभी निर्मर्यादावान् दैत्यों से दुःखी हम सुरों-द्वारा प्रणाम की जाती है और जो भक्ति-पूर्वक विशेष प्रकार से नम्र भावना-द्वारा स्मरण किये जाने पर हम लोगों की समस्त आपदाओं का नाश करती है, वह हम लोगों का कल्याण करे।

व्याख्या--ईश्वरी वा 'ईशा' का तात्पर्य सब कुछ करनेवाली है--'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्त्तुं समर्था इति ईशा।' दैत्य का अर्थ है दिति के वंशज। अदिति के वंशज दैवी सर्गवान देव कहे गये हैं और दिति के दैत्य। 'अदिति-राय: आदित्य' सूर्य का एक प्रधान नाम है। इससे दैत्य का एक लक्ष्यार्थ अप्रकाशवान वा अज्ञानी है, जिस प्रकार अदिति से हुए देवों का लक्ष्यार्थ प्रकाशवान् वा ज्ञानी है। 'उद्धत' का अर्थ दर्पी है, जो धर्म की मर्यादा को तोड़ता है। 'तापित' का वाच्यार्थ है गरम हो जाना, परन्तु लक्ष्यार्थ है दुःखित होना। यह ताप वा दुःख तीन प्रकार का है। एक भौतिक वा सांसारिक (विश्व) वा जाग्रदवस्था का, दूसरा दैविक वा पारलौकिक (तेजस) वा स्वप्नावस्था का और तीसरा आत्मिक वा प्रज्ञावस्था-द्योतक सुषुप्त्यवस्था का। ये तीनों आधि वा दुःख नमस्कार अर्थात् सोऽहं भाव से ही नष्ट होते हैं अन्यथा नहीं अर्थात् द्वैत-भाव से नष्ट नहीं होते--'सोऽहं भावो नमस्कारः' श्रुतिः।

'सर्वापदः'—(सर्वाः आपदो याभ्यः सकाशात्) का अन्तस्तात्पर्य अविद्या है। यह महाविद्या भगवती के स्मरण अर्थात् मनन से ही नष्ट हो जाती है। मनन के निरन्तर सजातीय प्रवाह के छूट जाने से

यह पुनः आ जाती है, जब तक कि मनन से प्राप्त ज्ञान का परिपाचन वा स्थिरीकरण पूर्ण निदिध्यास से असम्प्रज्ञात समाधि वा ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं होता है, जिसको कैवल्य-मुक्ति कहते हैं। अन्यथा ज्ञानियों वा जीवन्मुक्तों को भी क्षणिक मोह हो हो जाता है, कारण वे विश्व में पृथक् अविद्या-सत्ता के किञ्चित् अंश में रहते हैं, जिससे उनको भी लीला-मयी की लीला में भाग लेना ही पड़ता है। इसी भाव का द्योतक है—'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति'—सप्तशती। तात्पर्य यह कि ज्ञानी वा जीवन्मुक्त का आवरण-जन्य अविद्या-विकार हट जाता है, किन्तु विक्षेप-विकार नहीं हटता। ऐसे ज्ञानी को रज्जु (डोरी) में सर्प का भाव नहीं होता, परन्तु सुक्तिका में रौप्य-भाव रहता ही है। इससे भले ही दुःख न हो, परन्तु जब तक आँख, सुक्तिका और रौप्य-ज्ञान रहेगा, तब तक यह विक्षेप रहेगा ही। यहाँ एक दोष वा त्रुटि सविकल्प समाधि में है, जिससे निर्विकल्प समाधि की श्रेष्ठता सिद्ध होती है।
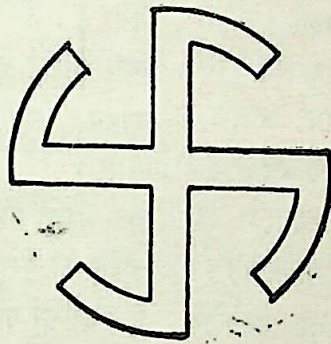
श्रौत देवी सूक्त

यह सूक्त ऋग्वेदान्तर्गत अम्भृण नामक महर्षि की ब्रह्म-विदुषी कन्या को सूक्ष्मात्म-गाथा है। इस ब्रह्म-विदुषी का नाम वाक् था। इसको हम परा-वाक्-स्वरूप ब्रह्मोद्भूता वैखरी-वाक् यद्वा पाञ्च-भौतिक शरीर-धारी ब्रह्म-विद् का मध्यमा-वाक्-रूपी आत्म-ज्ञान कह सकते हैं। इसकी आठ क्रियायें वा मन्त्र हैं। इसी के सतताभ्यास से समाधि वैश्य ने आत्म-ज्ञान प्राप्त कर परम पद पाया था—'स च वैश्यस्तपस्तेपे देवी-सूक्त-परं जपन्' (चण्डी)।

निर्विण्ण-मानस अर्थात् विषय-विरक्त प्राज्ञ। ठीक ही तो कहा गया है—'ब्रह्म-विद् ब्रह्मैव भवति'। यही सप्तशती का मौलिक उपादान है। देवी-माहात्म्य इसी का विश्लेषण मात्र है। यह वेदांश अर्थात् ज्ञातव्यांश है। यह आप्त-काम अविद्या-विनिर्मुक्त ब्रह्म-ज्ञानी का स्वात्म-सम्वेदन है। इसका प्रतिपाद्य विषय है सच्चिदानन्द-मय पर-मात्म-स्वरूप। इससे परमात्म और आत्म-स्वरूप का अभेद सिद्ध है। अहन्ता और इदन्ता भाव-द्वय का पराहन्ता-भाव में लय होने पर जो स्वरूप-ज्ञान है, इसी के उद्गार हैं देवी-सूक्त की ऋचायें। यही परमात्म-ज्ञान वा स्वात्म-ज्ञान सभी सत्-शास्त्रों का प्रधान लक्ष्य है। इसी का नाम मोक्ष—त्रिताप से मोक्ष वा मुक्ति वा शाश्वत् शान्ति वा आनन्द है। यही साधक का साध्य है। इसके साधन भले ही देश-काल-पात्र के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं। इसको शक्ति-साधन कहते हैं, जिसकी भित्ति है शुद्ध शाक्त-वेदान्त, जिसमें माया और ब्रह्म वा धर्म और धर्मी का एक-जीव-वाद के सुष्ठु आधार पर अभेदत्व सिद्ध है। तथा-कथित वेदान्ती जिस माया का 'दूरतो मुञ्च मायाम्' कहकर तिरस्कार करते हैं, उसी माया 'मीयते अनया इति माया' की सार्थकता देवी-सूक्त में सिद्ध है। जिस माया को विशेष यथार्थ ज्ञान की ढँकनेवाली 'माति परिच्छिनत्ति' कहते हैं, उसी माया का यथार्थ रूप इस सूक्त में दिखलाया गया है। जो औरों के हेतु मिथ्या-भूता सनातनी है, वही शाक्तो के हेतु सत्य-भूता सनातनी है। श्रौत वाक्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की सार्थकता इसी से है।

अस्तु, यह सूक्त अर्थ-ज्ञान-रहित केवल पाठ करने की वस्तु नहीं है। यह मनन करने की वस्तु है। इसको गीता के शब्दों में स्वाध्याय ज्ञान-यज्ञ कहते हैं। गुरु-मुख से सूक्त का अर्थ (अर्थ से यहाँ वाच्यार्थ मात्र नहीं, किन्तु लक्ष्यार्थ वा रहस्यार्थ का तात्पर्य है) समझ कर यथा-शक्ति मनन करने से ही कल्पोक्त फल की प्राप्ति होती है। अन्यथा केवल पाठ कर लेने से फलोत्पत्ति नहीं के समान है।

श्रौत देवी-सूक्त-व्याख्या

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यह-
मादित्यैरुत विश्व-देवैः।
अहं मित्रावरुणोभा विभर्म्यह-
मिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

टीका—मैं (आत्मा—परमात्मा और अन्तरात्मा) रुद्र, वसु, आदित्य और विश्वदेवों के संग अर्थात् इन रूपों में विचरण करता हूं। मैं मित्र और वरुण दोनों की, फिर इन्द्र और अग्नि की और अश्विना (कुमार) युगल को धारण करनेवाला हूं।

व्याख्या—'अहम्' से यहाँ देह-गेहाभिमानी सुख-दुःख-भोक्ता जीवात्मा का बोध नहीं है। इससे प्राज्ञ अन्तरात्मा का ही बोध है, जो अपने को सत्, चित् और आनन्द समझता है अर्थात् 'आत्मा वै जायते पुत्रः' के अनुसार अपने को जगज्जननी परमा सत्ता मा का प्रति-रूप समझता है।

इस प्रकार का ज्ञान द्वैत-भावापन्न का नहीं है। यह बहुत उन्नत स्तर के साधक की धारणा है। यह ज्ञान-काण्ड का विषय है, जब अव्यवसायात्मिका बुद्धि आती है अर्थात् कर्माहुतियों की पूर्णाहुति हो जाती है—'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'—जब अहन्ता भाव इदन्ता को उदरस्थ कर (अपने में मिला) पराहन्ता भाव में परिणत होता है। अर्थात् मेरे अतिरिक्त विश्व में दूसरा नहीं है अर्थात् मैं ही सब कुछ हूं—भला भी, बुरा भी; नित्य भी और अनित्य भी।

इसका मनन पर्याप्त मात्रा में कर परमात्म-प्रवेश कर पाता है, जैसा यजुर्वेद कहता है—'परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश ॥ ३२।११

'रुद्रेभिः' से ग्यारहों रुद्रों का बोध है। रुद्र की एक व्युत्पत्ति है—'रोदयति इति रुद्रः' अर्थात् जो रुलावे, उसको रुद्र कहते हैं। इनकी संख्या ग्यारह है। इनके शास्त्र-कथित नाम हैं—१ अजैकपद, २ अहिर्बुध्न्य, ३ विरूपाक्ष, ४ सुरेश्वर, ५ जयन्त, ६ बहुरूप, ७ त्र्यम्बक, ८ अपराजित, ९ सवित्र, १० हर और ११ शंकर। ये ग्यारहों पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और मन के द्योतक हैं। मन ही शंकर रुद्र है, जो सबका प्रधान है, जिससे भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—"रुद्राणां शङ्करश्चास्मि" अर्थात् रुद्रों में मैं ही शङ्कर हूँ। ये ही जीव के जन्म, मृत्यु, सुख और दुःख के हेतु होने से रुलानेवाले हैं, परन्तु साथ-साथ ये ही रुद्र (रुद्—रक् उणादि) जीव के आँसू पोछनेवाले अर्थात् हँसानेवाले भी हैं।

मन जहाँ बन्धन का कारण है, वहाँ यही मुक्ति का कारण भी है—"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।' मन दो प्रकार का है—एक अशुद्ध अर्थात् सङ्कल्प-विकल्पात्मक और दूसरा शुद्ध अर्थात् काम-विवर्जित। श्रुति कहती है कि लय और विक्षेप-रहित मन के निश्चल हो जाने पर अमनी (उन्मनी) भाव आता है। तभी मोक्ष है—"लय-विक्षेप-रहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम्। यदा यात्यमनी-भावं तदा

तत् परमं पदम् ।--मंत्रायण्युपनिषत् ४ प्रपाठक।

शिव-रहस्य रुद्र की परिभाषा यही देता है—'रुजं दुःखं दुख-हेतुं वा द्रावयते तस्मात् रुद्रः पशुपतिः स्मृतः' । यही परिभाषावायवीय संहिता की है।

यद्वा एकादश रुद्रों से वृहदारण्यक के अनुसार दश-प्राणों और ग्यारहवें आत्मा का बोध है। 'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश' । ये मृत्यु के समय अर्थात् कल्पित 'मम' शरीर से वियोग के समय रोते हैं और रुलाते हैं। इस हेतु इनको रुद्र कहते हैं--

'ते यद्यस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत् क्रामन्त्यथ रोदयन्ति। तद्यद्रोदयन्ति तस्माद् रुद्राः । वृहदारण्यक ६।४

अस्तु, आत्मा-अन्तरात्मा वा सर्व-भूतान्तरात्मा इन्हीं ग्यारहों रुद्रों को अधिष्ठान बना अर्थात् इन्हीं में प्रवेश कर विचरण करते हैं अर्थात् कार्य करते हैं अर्थात् अपने को प्रकट करते हैं। इसी का नाम विकास वा संसृति है, जिसको आंग्ल भाषा में 'इवाल्यूशन' कहते हैं।

ऋग्वेदोय "यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तर्य ओषधी वीरुध आविवेश य इमा विश्वा भुवनानि चाकलृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये" मन्त्र का भी ऐसा बोध है।

'वसुभिः'—वसु "वस् उ उणादि" पद अनेकार्थ-वाचक शब्द है। इसको सख्या आठ है। शास्त्रों में इनको संज्ञा भिन्न-भिन्न कही गयी है। श्रुति के अनुसार आठों ये हैं--१ अग्नि, २ पृथ्वी, ३ वायु, ४ अन्तरिक्ष, ५ आदित्य, ६ द्यौ, ७ चन्द्रमा और ८ नक्षत्र में रहनेवाले—'कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथ्वी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं वसु सर्वं हितमिति तस्माद् वसवः'—वृहदारण्यक। यहाँ वसु से ज्योति वा ऐश्वर्य का तात्पर्य है। इन्हीं अष्ट वसुओं के साथ विचरण अर्थात् विशिष्ट क्रियायें करने से अणिमा, लधिमा आदि अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है, जिसकी प्राथमिक अनुभूति भक्त साधकों को पुलक, अश्रु, कम्प, स्वेद आदि आठ लक्षणों से होती है। इन्हीं आठ प्रकार के प्रकाशों से आत्मा प्रकाशित होती है।

'आदित्यैरुत विश्वदेवैः'—आदित्य अदिति-सम्भवः 'आदित्यः' पद भी अनेकार्थ-वाचक है। अदिति अ–दिति का अर्थ है दुःख न देनेवाली और यही जब दो धातु से क्तिन् युक्त होने से बनता है, तो इसका अर्थ है अविभाज्य अर्थात् जिसका विभाजन वा टुकड़ा नहीं हो सकता। इस प्रकार पूर्व-पक्ष का तात्पर्य है शान्ति-कला और पर-पक्षार्थ का तात्पर्य है ज्योति वा परं-ज्योति-कला। इस परं-ज्योति-कला की बारह कलायें हैं, जो वर्ष के बारहों मासों में एक-एक कर क्रमानुसार काम करती रहती हैं। इसी कारण इसकी संज्ञा आदित्य है—'द्वादश वै मासाः सम्वत्सरस्यैत आदित्या एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्याः'—वृहदारण्यक।

इसकी दूसरी श्रौत परिभाषा 'दानादादित्यः' है। दान से जीवन वा प्राण-दान का यहाँ तात्पर्य है। इसकी बारह कलाओं के नाम हैं—१ तपनी, २ तापिनी, ३ धूम्रा, ४ मरीची, ५ ज्वालिनी, ६ रुचि, ७ सुषुम्ना, ८ भोगदा, ९ विश्वा १० बोधनी ११ धारिणी और १२ क्षमा। इसी आदित्य को सूर्य कहते हैं क्योंकि यह शत्रुओं का नाश करनेवाला है—शत्रून् सूयमानत्वात् सूर्यः—श्रुति। शत्रु से प्रकृति के विरोधी तत्वों का तात्पर्य है।

फिर इसी को सविता कहते हैं। कारण यही सृष्टि करता है—'सवनात् सविता'—श्रुति। यही

भर्ग है, जैसी श्रौत परिभाषा है–'यो हवा अस्मिन्नादित्ये निहितस्तारकेऽक्षिणि चैव भर्गाख्यो भाभिर्गतिरस्य हीति भर्गो भर्जति वैष भर्ग इति रुद्रो ब्रह्मवादिनोऽथ भर्ग इति भासयतीमाँल्लोकानिति रञ्जयतीमानि भूतानि गच्छत इति गच्छत्यस्मिन्नागच्छत्यस्मा इमाः प्रजास्तस्माद् भासकत्वाद् भर्गः'– मैत्रायण्युपनिषत् अर्थात् जो इस आदित्य में मग्न है, फिर प्रकाश-रूपी नेत्र में मग्न है, वह भर्ग नाम का प्रकाश से चलनेवाला, दुःख को नाश करनेवाला, ब्रह्मवादी रुद्र-कान्ति से लोगों का प्रकाश करनेवाला, प्राणियों को प्रसन्न करनेवाला, लोगों का जिसमें लय हो और सृष्टि हो, ऐसा कान्तिमान् भर्ग है।

संक्षेप में भर्ग से सूर्य-मण्डलाधिष्ठातृ शक्ति सर्व-भूतात्मत्व का ही बोध होता है, प्रसिद्ध भौतिक ज्योति का नहीं –'नाप्याकाश-वाधारभिव्यञ्जकत्व ज्योतिषोऽस्ति येनाभिव्यञ्जकतया सर्व-भूतात्मत्वं तस्य स्यादिति चेद् भर्गोऽयं सूर्य-मण्डलाधि-देवता जीव-विशेषः'।

अस्तु, आदित्यों के सङ्ग विचरण करने का ऐसा तात्पर्य है कि आत्मा, जिससे आकाशादि महाभूतों की उत्पत्ति है, सर्व-भूतान्तरात्मा-रूप में प्रकटित वा व्यक्त होता है। राम ब्रह्म की 'रमणात् रामः' लक्षणा और कृष्ण ब्रह्म की 'कर्षणात् कृष्णः' लक्षणा इस वाक्य से भी सिद्ध है, जिसका स्पष्टीकरण 'विश्व-देवों के साथ विचरण करती हूँ' वाक्य से होता है।

'विश्व-देवैः—विश्व-देव से उस चिति वा चेतना का बोध है, जिससे अखिल विश्व—चर और अचर व्याप्त है। विश्व-पद विश्+क्वन् उणादि से व्यापक सत्ता का बोध है और देव-पद 'दिव्+अच्' से प्रकाश करनेवाली खेलनेवाली (लीला वा क्रीड़ा करनेवाली) सत्ता का बोध है। यह चिति-सत्ता नाम-रूप एवं व्यवहार-भेद से असंख्य है। इसी हेतु बहु-वचनान्त पद का प्रयोग है।

आत्मा इन्हीं विश्व-देवों अर्थात् विश्व-व्यापी चैतन्य-कलाओं द्वारा खेलती हई आनन्दित होती रहती है। यह ध्यान में रखना है कि यही परिदृश्यमान् विश्व-रूप का प्रकाश 'मैं' ही हूँ अर्थात् जगत्-त्रय उसी एक का प्रकाश है, जिससे मैं अभिन्न हूं– 'प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने। संसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासदः' यजु० १२।३८

'मित्रावरुणौ'— मित्र सूर्य की एक संज्ञा है, कारण यही जीव का सच्चा पोषक बन्धु है। इसी से तो जगत् की स्थिति है। इसी को धर्म (धृ धारणे +मन् उणादि) कहते हैं, जिससे सुख है–'धर्म ततः सुखम्'।

'वरुण' (वृ आवरणे—उनन् उणादि) से यहाँ वेद-प्रतिपादित जल-देवता वा जलाधिष्ठातृ देवता का बोध नहीं है। यहाँ अज्ञान में आवृत्त करनेवाले अधर्म का बोध है। यही जीव का शत्रु है।

'मित्र' से आत्माकार-वृत्ति और 'वरुण' से अनात्माकार-वृत्ति अर्थात् विद्या और अविद्या का बोध है। तात्पर्य कि यही आत्मा वा आत्म-शक्ति विद्यात्मिका और सङ्ग-सङ्ग अविद्यात्मिका भी है। ऐसा श्रुति भी कहती है–'विद्याहमविद्याहम्'– अथर्वशीर्ष।

चण्डी के रात्रि-सूक्त में भी ब्रह्मा की उक्ति है– 'महाविद्या महामाया' १।५८। योगवाशिष्ठ भी कहता है 'स्पन्दास्पन्द-विलासात्मा एको भरिताकृतिः, स एव सदसद्रूपं येनालोकेन लक्ष्यते'। गीता कहती है—'सदासच्चाहमर्जुन।' इसी उभय द्वन्द्व-

रूपत्व का बोधक पद है–'उभौ बिभर्मि' अर्थात् दोनों (रूपों) को धारण करनेवाली हूँ। इससे उभय-परिणामिनी सत्ता का बोध है। यह सत्ता नाम मात्र में भेद रखती है, व्यवहार में नहीं अर्थात् वस्तुतः भेद नहीं है–'सत्ता नाम्नैव व्यवहारान्न वस्तुतः' यो० वा०। फिर यही योग-वासिष्ठ वा ज्ञान-वासिष्ठ कहता है कि महा सत्ता के ही दोनों रूप हैं, जिसके विभाजन से ही नानाकृति में स्थिति है। इसका ज्ञान विभाग के त्याग अर्थात् तत्व-शोधन से ही होता है–'विशेष सम्परित्यज्य सन्मात्रं यदलेपकम्। एक-रूपं महा-रूपं सत्तायास्तत् पदं विदुः॥'–यो० वा० उपशम-प्रकरण ८१।१०२।

'अहमिन्द्राग्नी'––मैं ही इन्द्र और अग्नि हूँ। इन्द्र (इदि–रन्-उणादि) का वाच्यार्थ है परमा सत्तावाला। इसी अर्थ में वेदों में इसकी स्तुति की गई है। इससे सुख-दायिका सत्ता का बोध है। अग्नि (अगि–नि उणादि) से दाहक और पाचक-शक्ति का बोध है। यद्यपि दाहकत्व वा तापकत्व-लक्षरण से दुःख-दायिका सत्ता का बोध है, जिस भाव में आत्मा ही सुख और दुःख-दायिका है, ऐसा अर्थ है परन्तु दाहकत्व से मल-दाहकत्व का बोध है। इस भाव में ऐसा बोध है कि मैं ही ज्ञेय और ज्ञान, प्रमेय और प्रमाण हूँ। योग-वाशिष्ठ भी कहता है–'यद वेत्सि तदसौ देवो येन वेत्सि तदप्यसौ'। तात्पर्य कि यही सुख है और यही मल-दाहिका होने से सुख का कारण भी है।

'अहमश्विनोभा'––मैं ही दोनों अश्विनी (कुमारों) को धारण करनेवाली हूँ। ये अश्विनी-कुमार मार्त्तण्ड-भैरव (सूर्य) के पुत्र हैं। अर्थात् तैजस के संसृति-द्वय हैं। वैसे तो इनको देव-चिकित्सक अर्थात् जरा और मरण-निवारक शक्तियाँ कहते हैं, परन्तु ये व्यष्टि वा पिण्डाण्ड में भी प्राण-वायु और अपान-वायु के रूप में रहते हैं। तात्पर्य कि ये दोनों प्राण और अपान वायु की अधिष्ठात्री-शक्तियाँ हैं, जिनके द्वारा जीवात्मा का भोग-कर्म निष्पन्न होता है। समष्टि-भाव में इनके ही द्वारा परमात्मा का आनन्द-कर्म निष्पन्न होता है।

आओ शाक्त बन्धु, हम भी इन द्वन्द्व शक्तियों के इस वैदिक अनुशासन के अनुसार नित्य जीवन-यात्रा के प्रारम्भ-काल में साधन करें–

> 'प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे,
> प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
> प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं,
> प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम॥'
> अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं,
> त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
> अहं दधामि द्रविणं हविष्मते,
> सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते॥ २॥

टीका–मैं शत्रु-नाशक सोम, त्वष्टा, पूषा एवं भग को धारण करती हूँ। (फिर) मैं (देवों) को उत्तम हवि पहुँचानेवाले और सोम-रसाभिषव करनेवाले यजमानों वा साधकों के द्रविण अर्थात् योग-रूप फल-रूपी धन भी धारण करती हूँ।

व्याख्या–'सोममाहनसम्'–सोमम् का विशेषण 'आहनसम्' है। इसके दो अर्थ हैं। एक है 'आहान्तव्यं' अर्थात् आहुति देने योग्य और दूसरा अर्थ 'आहान्तारं अभिषोतव्यं' अर्थात् शत्रु-नाशक। दोनों अर्थ उपयुक्त हैं। फिर सोम से भी सोम-रस अर्थात् अमृत और चन्द्र दोनों तात्पर्य यथार्थ हैं। महा-शक्ति स्वयं रस भी है––'रसो वै सः' और सोम अर्थात् चन्द्र-धारिणी है, जिस कारण इसकी एक

संज्ञा चन्द्र-शेखरा है। दोनों तात्पर्य उपयुक्त हैं। सोम-रस की आहुति से, चाहे अग्नि-मुख में चाहे कुण्डलिनी-मुख में, काम-क्रोधादि षड्-रिपुओं का नाश होकर अजरत्व और अमरत्व की प्राप्ति होती है। फिर दुर्निग्रह मन के वशीकरण को भी शत्रु-दमन कह सकते हैं। सोम की आहुति से मन की चञ्चलता दूर होती है। इस प्रकार मनोनाश-कर्त्ता सोम है, ऐसा बोध है।

'त्वष्टारम्—त्वष्ट्र (तिष्—तृच् उणादि) से चमकनेवाले का और 'त्वक्ष्–तृच्' रूप में पतला करनेवाले का बोध है। इसी अर्थ में त्वष्टा से विश्व-कर्मा नाम के शक्तिमान् का बोध है। घनीभूता शक्ति को पतली अर्थात प्रसारित करके ही प्रपञ्च की स्थिति होती है। इससे व्यवसायात्मिका बुद्धि का, जिससे विश्व वहु-विध नाम और रूपों में देखा जाता है, बोध है।

'पूषणम्'—पूषण (पूष—कनिन) से पोषण करनेवाले का वोध है। इसी से यह सूर्य की एक संज्ञा है। इससे इदन्ता-भावाश्रित विश्व की पोषण वा पालिका शक्ति का बोध है।

'भगम्'—भग-नाम ऐश्वर्य का है। अनभिघात-रूप से इच्छा-प्राप्ति जिससे हो, उसी को ईश्वरत्व वा ऐश्वर्य कहते हैं। शब्दार्थ भी इस पद का यह है कि जिसका भजन किया जाय। वेद भी इसका स्तवन इस प्रकार से करता है–'भग एव भगवाँ अस्तु देवास तेन वयं भगवन्तः स्याम। तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति सनो भग पुर एता भवेह ॥' ऋग् ७।३१।५ यह धर्मी-शक्ति की धर्म-शक्ति है। इसी हेतु भगवती वा भगवान् पदों का प्रयोग होता है। यह योनि वा स्त्री-जननेन्द्रिय का पर्याय-वाचक भी है। योनित्व से कारणत्व का बोध है। जन्म-हेतु से योनि-शब्द का व्यपदेशत्व है। ब्रह्म-योनि एक है, इसके प्रतीक असंख्य। इसी को श्रुति ने पुं-रूप में भी कहा है—'पुरुषं ब्रह्म-योनिम्'। इससे जहाँ चिति-समूह का बोध है, वहाँ महा-चिति का भी बोध है। यही घनीभूत चेतना का विकसित रूप है। तन्त्र-शास्त्र में इसी भाव को त्रिकोण-मध्य-स्थित विन्दु-अङ्कन द्वारा व्यक्त किया गया है।

इन सबकी अर्थात् आहनस सोम, त्वष्टा, पूषण और भग की धारण करनेवाली आत्मा है। तात्पर्य कि सच्चिदानन्द-स्वरूप 'अहम्' (प्राज्ञात्मा) ही इन सव रूपों में आत्म-प्रकाश करता है।

'अहं दधामि द्रविणम्'—मैं 'द्रविण' अर्थात् सम्पत्ति वा धन की धारण करनेवाली हूँ। यहाँ 'द्रविण' वा धन से यज्ञों के स्वर्ग और अपवर्ग-रूपी फल का तात्पर्य है। जिस प्रकार यज्ञों में भेद है, उसी प्रकार तत् तत् यज्ञों के फल वा द्रविण में भी भेद है। द्रव्य-यज्ञ, तपोयज्ञ, योग-यज्ञ, स्वाध्याय अर्थात मनन-यज्ञ और ज्ञान-यज्ञ के भी क्रमशः दैविक और आध्यात्मिक सम्पत्ति-रूपी फल हैं। इन फलों की धारण करनेवाली आत्म-शक्ति है। तात्पर्य कि फल देनेवाली वही एक है। गीता भी कहती है 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'। कारण फल भी तो यही है। इसको हम अदृष्ट फल भी कह सकते हैं, जो शास्त्र-विहित कर्मानुष्ठान से उप-चित होता है और जो समय पर फल प्रसव करता है। इसी को द्रविण कहते हैं।

'हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते'—यह द्रविण किसको दिया जाता है? यह 'हविष्मते' अर्थात् हवियों से युक्त (हविभिर्युक्ताय) 'सुप्राव्ये' अर्थात् देवताओं की प्राप्ति हेतु शोभन वा सुन्दर हवि देनेवालों को 'सुन्वते (सोमाभिषवं कुर्वते) सोमाहुति

देनेवाले यजमानों अर्थात् यज्ञ करनेवालों को दिया जाता है। अर्थात् शास्त्र-विहित कर्मानुष्ठानियों के ही द्रविण सञ्चित होते हैं। अन्यों अर्थात् शास्त्र-विधान के विरुद्ध कर्म के अनुष्ठान करनेवालों को द्रविण प्राप्त नहीं होता। ऐसा गीता भी इन शब्दों में कहती है—'यः शास्त्र-विधिमुत्सृज्य वर्तते काम-कारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥'—१६।२३।

इस पद वा मन्त्र से ऐसा तात्पर्य है कि एक यही (आत्म-शक्ति) यज्ञ-स्वरूप कारण है और फल स्वरूप कार्य भी है।

> अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां,
> चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्,
> तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा,
> भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥ ३॥

टीका—मैं 'राष्ट्री' अर्थात् राष्ट्र वा विश्व की ईश्वरी वा अधीश्वरी और सम्पत्तियों की देनेवाली हूँ। (फिर मैं ही) ब्रह्म-साक्षात्कार का कारण-ज्ञान वा महा-विद्या हूँ। (इसी हेतु) यज्ञार्हों में प्रथम वा मुख्य हूँ। बहु-भाव से प्रपञ्च में अवस्थिता और सर्व-भूतान्तरात्मा (इस प्रकार गुण-विशिष्ट) मुझको देवता-गण सब प्रकारों से उपासना करते हैं।

व्याख्या—'राष्ट्री' (राज—ष्ट्रन्) पद अनेकार्थ-वाचक है। वैसे तो राष्ट्र एक विशिष्ट मानव जाति को, जो एक शासन सूत्र-बद्ध होकर रहता है, कहते हैं। यहाँ एक-दैशिक ही नहीं, एक-पौरिक नहीं त्रै-पौरिक अर्थात् अखिल विश्व का बोध है। तात्पर्य कि परिच्छिन्न देश नहीं, अपरिच्छिन्न विश्व के अर्थ में 'राष्ट्र'-पद का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः इसी का नाम 'राष्ट्र' है, कारण विश्व-धर्म वा विश्व-शासन सूत्र में बद्ध है। हम संकीर्ण हृदयवाले भले ही इसके आंशिक रूप को ही 'राष्ट्र' संज्ञा दें। अतएव 'राष्ट्री' से अनन्त ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति और लय करनेवाली परमेश्वरी का बोध होता है।

'वसूनां सङ्गमनी'—वसु नाम धन या सम्पत्ति व अर्थ का है। यह धन तीन प्रकार का है—१ भौतिक वा सांसारिक धन, २ दैवी अर्थात् स्वर्ग-भोग इत्यादि और ३ आध्यात्मिक धन, जिसको विशेष यथार्थ ज्ञान कहते हैं। इन तीनों की 'सङ्ग-मनी' वा सङ्गमयित्री अर्थात् सम्यक् प्रकार से वा सर्व-विध देनेवाली है।

'चिकितुषी'—इससे आत्म-ज्ञान और परमात्म-ज्ञान का बोध है। ये दोनों ज्ञान अन्योन्याश्रित हैं, कारण आत्म-ज्ञान के विना परमात्म-ज्ञान नहीं होता और विना परमात्म-ज्ञान के आत्म-ज्ञान नहीं होता। तात्पर्य कि किसी एक के ज्ञान से दोनों का ज्ञान होता है। यही आध्यात्मिक 'वसु' वा पारमार्थिक धन-सम्पत्ति है। वही पराहन्ता है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि अहन्ता वा 'अहम्' का ज्ञान 'इदन्ता' वा 'इदम्' के ज्ञान के सङ्ग रहने से बन्धन का कारण है, पर इदन्ता-रहित अहन्ता-ज्ञान, जिसको पराहन्ता कहते हैं, मोक्ष का कारण है। यही 'चिकितषी' है।

'यज्ञीयानाम् प्रथमा'—यही ज्ञान यज्ञाङ्ग-समूहों का 'प्रथम' है। अर्थात् अद्वैत भाव ही उपासना-समूह का मूल है। यही उपासना 'उप—आसना' अर्थात् समीप ज्ञान है। 'निश्चय ज्ञानम् आसनम्' मण्डल ब्राह्मण। भावनोपनिषत् भी कहता है—'अपरिच्छिन्नतया भाविताया ललितायाः स्वे महि-म्न्यैव प्रतिष्ठितम् आसनम्' अर्थात् अपरिच्छिन्न

भाव से उपास्य का अपने में प्रतिष्ठान ही यथार्थ आसन है। इसी भाव में 'अहम्' के स्वरूप का ज्ञान रखकर यज्ञादि-उपासना में प्रवृत्त होता है। इसी को मिश्र वा परापरा-पूजा वा वीर-भाव की पूजा कहते हैं। (परापरा आदि तीन प्रकार की पूजाओं की व्याख्या 'श्री श्यामा-सपर्या-वासना' में देखिये)।

इन वाक्यों से ऐसा बोध होता है कि उपासना की मूल भित्ति वा आधार, उपासना और इसका फल एकमात्र अहं-रूपी चेतना ही है।

'भूरिस्थात्रीं भूर्यावेशयन्तीम्'- इन दोनों विशेषणों में वाह्य दृष्टि वा स्थूल दृष्टि से भेद नहीं है। 'भूरि' में अवस्थिता और 'भूरि' में प्रविष्टा में क्या भेद है ? इस पुनरुक्ति का यह तात्पर्य है कि एक यही सब भूतों में जीवात्मा और अन्तरात्मा-रूप से अवस्थित है। गीता के शब्द में क्षेत्र भी यही और क्षेत्री वा क्षेत्रज्ञ भी यही है। इस भाव की पुष्टि योग-वाशिष्ठ के इस वाक्य से होती है—

'यदिदं दृश्यते राम तद् ब्रह्मैव निरामयम्।'— उ० प्र० ७।४४। इसी का नाम एक-जीव-वाद है।

'तां मा देवा पुरुत्रा व्यदधुः'—इन लक्षणाओं से लक्षिता मुझको देव-गण अर्थात् देवी सर्गवाले अर्थात् उन्नत ज्ञान-वीर्यवाले अर्थात् वीर साधक 'पुरुत्रा' अर्थात् बहु-देशों में अर्थात् सभी प्रकारों वा भावों में उपासना करते हैं। तात्पर्य कि आत्म-शक्ति-सम्पन्न साधक प्रतीक-स्पर्श ब्रह्म-प्रधाना उपासना करते हैं—'देवाः विदधति कुर्वन्ति उक्त-प्रकारेण विश्व-रूपेण अवस्थानात् यद्यत् कुर्वन्ति तत्-सर्वं मामेव कुर्वन्ति'–सरयू-प्रसाद-कृत व्याख्या।

इस मन्त्र में 'अहम्' पद का लिङ्ग-विश्लेषण है। 'अहं' अलिङ्गक अर्थात् कोई विशिष्ट लिङ्ग-वाचक नहीं है, सब लिङ्गों में व्यवहृत हो सकता है। अतएव इसका स्पष्टीकरण आवश्यक था। शक्ति से ही शक्ति-मानों की स्थिति वा अस्तित्व है। राज-सत्तावाले को ही राजा कहते हैं। राज्य-हीन को राजा नहीं किन्तु भूतपूर्व राजा कहते हैं। दाहक सत्तावाले को ही अग्नि कहते हैं, दाहक सत्ता हीन को भस्म वा अग्नि-शेष कहते हैं। इसी प्रकार इकार वा शक्ति-विहीन शिव को शव कहते हैं। इस प्रकार सिद्ध है कि शक्ति ही मूल वस्तु है। शक्ति-मान् तो शक्ति के अधिष्ठान हैं। शक्ति स्त्री-लिङ्ग-वाचक पद है। इसी हेतु 'अहम्' पद का व्यवहार स्त्री-लिङ्ग में किया गया है।

फिर यह सूक्त श्रुति ही तो है और सभी श्रुति शक्ति-प्रतिपादिका हैं। जिस प्रकार सीधा-टेढ़ी नदियाँ सागर ही में जाकर मिलती हैं, उसी प्रकार श्रुतियाँ सीधे अर्थात् स्पष्टतया और टेढ़ी-मेढ़ी होकर अर्थात् रहस्य-भाव में शक्ति का ही प्रतिपादन करती हैं—'ऋजु-कुटिल-सर्वाध्व-वाहिन्यो नद्यः सागरमेवापयान्ति तद्वत् सर्वाः श्रुतयः शक्ता-वुपताः।'

विशेषतः जब प्रतिपाद्य विषय 'स्वगुणैर्निगूढ़ा आत्म-शक्ति' (श्वेताश्वतरोपनिषत् के शब्दों में) है, तो स्त्री-लिङ्ग का व्यवहार सर्वथा युक्त है। इस व्यवहार से मातृ-भावेन उपासना का तात्पर्य है। तभी 'बाल्येन तिष्ठासेत्' श्रुति-वाक्य की सार्थकता है। इस मातृ-उपासना वा उपासा के एकाधिक तात्पर्य हैं। एक भाव में मान करनेवाला 'मातृ वा प्रमातृ' होकर अर्थात् प्रमातृ-रूप में प्रमाण वा मान-द्वारा मेय वा प्रमेय का ज्ञान बोध करता है। इस अवस्था में मातृ-रूप हो अर्थात् यथार्थ माता से अभिन्न हो मान-द्वारा अर्थात् मनन-द्वारा मेय का ज्ञान-लाभ करना ही उपासा वा उपासना है। इसी

की इन शब्दों में रूपक-भाव में स्पष्ट कर सकते हैं। भीत-चकित, क्षुधित, बाल-तुल्य जीव दूरस्था माता के समीप आसा (आसना) अर्थात् चिति-क्रिया जिससे सम्पादित हो, उसी का नाम उपासा वा उपासना है।

यह मातृत्व, जो ब्रह्म की ही लक्षणा है–'तन्मातृत्वं ब्रह्मण एव यस्मात् एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। ख वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी' अपिच 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जावन्ति'—श्रुति, पुनः 'जन्माद्यस्य यतः' ब्रह्म-सूत्र, दो प्रकार का है। विश्व-मातृ-भाव निरपेक्ष-रूप में और व्यष्टि-मातृ-भाव सापेक्ष रूप में है। इन्हीं दोनों रूपों का एकीकरण करना है। इनमें सिद्धि वा साध्य-लाभ शीघ्र होता है। इसी हेतु शास्त्रों में अधिक प्रशस्त है–

'मातृ-भावेनोपासकानां सिद्धि-लाभो झटिति भवति इति अतस्तस्य प्राशस्त्यमुच्यते।'

आओ शाक्त बन्धु! प्यासे-भूखे, भाव-विभीषिका से भीत हम ब्रह्म-स्वरूपा माता की—जो ब्रह्म, परमात्मा आदि नामों से कही जाती है—सा 'ब्रह्म परमात्मादि-नामभिः परिगीयते'—(ज्ञान-वाशिष्ठ निर्वाण प्र० पू० ७८।३४) महर्षि वामदेव-सदृश भ्रूणस्थ वा गर्भस्थ शिशु-वत् अर्थात् पृथक् अस्तित्व माननेवाले जिसको ग्रहीं * या लम्बित कहते हैं, उनके सदृश उपासना करें। यदि हम इस योग्य न हों (सबकी समान योग्यता नहीं हो सकती), तो समाधि वैश्य के सदृश ग्रहणालम्बनोपासना ही करें, जो ग्रहण पदार्थ इन्द्रिय, मन और बुद्धि के परे नहीं हो सकते अर्थात् इन्हीं के आश्रित हैं। यदि ऐसा भी न कर सकें, तो राजा सुरथ-सदृश ग्राह्यालम्बनोपासना अर्थात् भोज्य, पेय वस्त्रादि-रूप ग्राह्य वा काम्य-वस्तु के सङ्ग-सङ्ग मातृ-सान्निध्य वा तादात्म्य-भाव की इच्छा भी बुरी नहीं है, कारण प्रधान तो मातृ-सान्निध्य ही है। ग्राह्य-भाव गौण रहने से उत्कृष्ट न होने पर भी विशेष हानि नहीं है।

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति,
यः प्राणिति य ईं श्रृणोत्युक्तम्।
अमन्तवोमान्त उपक्षियन्ति,
श्रुधि श्रुत श्रद्धिवन्ते वदामि॥ ४॥

टीका—जो (जीव) अन्न खाता है, जो देखता है, जो प्राण-क्रिया अर्थात् श्वासोच्छ्वास-क्रिया करता है और जो सुनता है, ये क्रियायें मेरे द्वारा ही अर्थात् आत्म-शक्ति-द्वारा ही सम्पादित होती हैं। हे श्रुत, स्मृत वा विश्रुत सखे! मेरे वचनों को, जो मैं तुमसे कहती हूँ, श्रद्धा-पूर्वक सुनो! इस प्रकार मुझको न जाननेवाले क्षीणता प्राप्त करते हैं।

व्याख्या—'सः' से किसी विशिष्ट जीव का बोध नहीं है। इस 'सः' पद से सभी जीवों का बोध है, चाहे वह अन्न-मय कोष-धारी हो वा प्राण-मय कोष-धारी वा मनोमय कोष-धारी।

'अन्नम् अत्ति'—अन्न खाता है। अन्न से आहार्य द्रव्य का बोध है, चाहे शारीरिक हो वा मानसिक। शरीर के आहार अनेक प्रकार के हैं। यथा—अन्न, फल, मूल-दूध, पानी आदि 'आपो वा अन्नम्' श्रुति। इन सबका बोध अन्न से होता है। फिर मानसिक आहरण-विषय भी मन के हेतु अन्न है। जिस प्रकार शरीर के पोषक वा अस्तित्व रखनेवाले को 'अन्न' कहते हैं, उसी प्रकार मन के अस्तित्व को रखनेवाले मननीय विषयों को मन के हेतु आहार्य

* 'ग्रहीत्री चिदचिद्-रूपा माता सैव तत्रालम्बन-भूता' शक्ति-भाष्य।

द्रव्य कह सकते हैं। अन्न की श्रौत परिभाषा है—'अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्न तदुच्यत' (तैत्तरीय)। यह क्रिया 'मया' अर्थात् मेरे द्वारा अर्थात् आत्म-शक्ति के द्वारा ही होती है। कारण अग्नि—जठराग्नि की अन्न-पक्तृत्व शक्ति अर्थात् पाचन-शक्ति इसी आत्म-शक्ति की एक धर्म-शक्ति है।

यद्वा 'अन्नमत्ति' का प्रकारान्तर से सूक्ष्मार्थ ऐसा है कि 'अन्न'-नाम ब्रह्म का है, जैसा श्रुति कहती है—'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात' (तैत्तरीय)। इस भाव में ब्रह्म से अत्ता अर्थात् ग्रहण-कर्त्ता अर्थात् वेत्ता का बोध होता है। इस प्रकार 'मया सोऽन्नमत्ति' का अर्थ है 'मेरे द्वारा अर्थात् मेरी कृपा से ही ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति करता है।' तात्पर्य कि विमर्श-शक्ति भी स्वयं वही है।

'विपश्यति'—विशेष भाव से देखता है वा विकल्प-भाव से देखता है। इससे दोनों तात्पर्यों का बोध है। उसी एक के महा-विद्या-रूप द्वारा विशेष भाव से अर्थात् अन्तश्चक्षु वा ज्ञान-नेत्र से यथार्थ रूप का दर्शन करता है और उसी के अविद्या वा महा-माया-रूप द्वारा बहिश्चक्षु वा अज्ञानावृत्त-नेत्र से अयथार्थ दर्शन करता है। इसी को विकल्प-भाव से देखना कहते हैं।

'प्राणिति'—प्राण-क्रिया करता है। यह क्रिया प्राण-शक्ति द्वारा ही सम्पादित होती है। यह वही शक्ति है, जो प्राणों के भीतर रहकर निश्चित कर्म करती है। इसी सम्बन्ध में श्रुति कहती है—'यः प्राणे तिष्ठन् प्राणस्यान्तरो, यं प्राण ना वेद, यस्य प्राणः शरीरं प्राणमन्तरा यमयति एष आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।' इसी से श्रुति ने निर्धारित किया है कि प्राण अर्थात् प्राण-शक्ति ही ब्रह्म है—'प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तैत्तरीय)। अतएव ब्रह्म-सूत्र 'प्राणः' सिद्ध करता है।

इस प्रकार प्राण-क्रिया का सम्पादन इसी 'अहं' वा आत्म-शक्ति के द्वारा होता है, ऐसा सिद्ध होता है।

'उक्तं शृणोति'—शब्द ग्रहण करता है अर्थात् सुनता है। यह क्रिया भी आत्म-शक्ति के द्वारा ही सम्पादित होती है। कारण ग्रहण-शक्तियाँ जितनी और जो भी हैं, सब आत्मा में ही सम्प्रतिष्ठित हैं। श्रुति भी कहती है—'पृथिवी च पृथिवी-मात्रा चापश्चापो मात्रा च तेजश्च तेजो मात्रा च वायुश्च वायु-मात्रा चाकाशश्चाकाश-मात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्र च श्रोत्रव्यञ्च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं चाहङ्कारश्चाहं कर्त्तव्यं च चित्तं च चे..यितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च।'—प्रश्नोपनिषत्

तात्पर्य कि यही 'अहम्' वा आत्म-शक्ति देखनेवाली, स्पर्श करनेवाली, सुननेवाली, सूँघनेवाली, रस ग्रहण करनेवाली, मनन करनेवाली, समझनेवाली, विशेष ज्ञान करनेवाली आदि है। देखिये प्रश्नोपनिषत् ४।८।

'माम् अमन्तवः'—'माम्' (मुझको) से आत्म-शक्ति वा मातृ-शक्ति का तात्पर्य है। यह शक्ति समष्टि मातृ-शक्ति-युक्ता वा अभिन्ना व्यष्टि मातृ-शक्ति है, न कि पृथक् व्यष्टि-शक्ति। समष्टि-शक्ति को व्यष्टि-शक्ति से भिन्न समझना ही अर्थात् व्यष्टि शक्ति की स्वतन्त्र सत्ता मानना ही 'माम्' को न जानना है।

'उपक्षियन्ति'—पूर्वोक्त अहम्मानी अर्थात् अपर-अहङ्कारी जीव की ही अधोगति है।

'श्रुत श्रुधि श्रद्धि वन्ते वदामि'—हे श्रुत अर्थात् हे सखे मन, तुमसे मैं कहती हूँ। तुम श्रद्धापूर्वक सुनो। यह बुद्धि की मन के प्रति उक्ति है। वा व्यष्टि-भाव में अन्तरात्मा वा प्राज्ञात्मा जीवात्मा अर्थात् पाश-बद्ध आत्मा को समझाती है, ऐसा बोध होता है। समष्टि-भाव में दैवी वाणी है। 'श्रुत' से उस मित्रात्मा का बोध होता है, जो अपना मित्र होकर अपना उद्धार चाहता है। इससे शत्रु-रूपी आत्मा का बोध नहीं होता है, जो अपना अहित करनेवाला है -'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः'—गीता।

> अहमेव स्वयमिदं वदामि,
> जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
> यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि,
> तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ५ ॥

टीका—मैं स्वयं यह कहती हूँ, जिसका सेवन देव-गण और मनुज-गण करते हैं। मैं अपनी इच्छानुसार जिसको चाहूं, सबसे बड़ा पदवाला, ब्रह्मा, ऋषि, सुन्दर मेधावान् करती वा बनाती हूँ।

व्याख्या—'अहमेव स्वयं इदं वदामि'—मैं ही अर्थात् अन्तरात्म-शक्ति-मती यथार्थ विशेष ज्ञानवती 'इदम्' अर्थात् यह ब्रह्मात्मक वस्तु 'वदामि' कहती हूँ अर्थात् उपदेश करती हूँ। यह वस्तु ऐसी है कि मनुज-गण क्या, देव-गण भी इसका सेवन अर्थात् चिन्तन करते रहते हैं। पुराणों में ब्रह्मा आदि देव-गणों की तपस्या की जो कथायें हैं, वे इसी भाव की द्योतक हैं। तात्पर्य आत्म-तत्व वा परम-तत्व-चिन्तन सभी को करना पड़ता है। आत्म-सम्वेदन से ही सृष्टि होती है। इसी से स्थिति है और इसी से लय है। साकार मात्र को ऐसा कर्त्तव्य है। नर-नारायण की तपस्या और कुछ नहीं, बस, यही अहं-चिन्तन वा आत्म-चिन्तन है।

'मनुष्य'-पद का, जो 'मन् चिन्तने' धातु से बना है, यथार्थ अर्थ आत्म-चिन्तन करनेवाला है। यही मनुष्य यथार्थ-ज्ञानी होकर पराहन्ता अर्थात् पर अर्थात् सर्वश्रेष्ठ अहन्ता-भाववाला है और यही अयथार्थ ज्ञानी होकर अपराहन्ता अर्थात् संकुचित जीव-भावापन्न है। दोनों ही अहन्ता-भावापन्न हैं। अन्तर इतना ही है कि जहाँ पराहन्तावाले को इदन्ता-भाव नहीं है अर्थात् यह ऐसा समझता है कि सब मैं ही मैं हूँ, वहाँ अपराहन्तावाले को इदन्ता-भाव रहता है और वह अपने को बहुत ही संकुचित भाव से देखता है—ममता-भाव से ग्रस्त रहता है।

'यं कामयते तं ··'—समष्टि-भाव में इस पद से ऐसा बोध होता है कि परा-चिति अर्थात् महा-शक्ति की इच्छा के अनुसार उग्र अर्थात् रुद्र, ब्रह्मा, विष्णु आदि अपना-अपना पद पाते हैं अर्थात् यह जिसको चाहे सर्वोच्च-स्थान देती है। तात्पर्य कि पार्थिव (सांसारिक वा भौतिक) और अपार्थिव (अलौकिक वा आध्यात्मिक) उन्नति इसी एक की कृपा पर निर्भर है। व्यष्टि-भाव में केवल व्यष्टि आत्म-शक्ति से ही पार्थिव उन्नति और अपार्थिव उन्नति होती है। यहाँ तक कि यथा-कथित एक साधारण जीव ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र-सदृश महान् जीवों के पद प्राप्त कर लेता है। यह नाम-ब्रह्मोपास्ति है। इसके सम्बन्ध में श्रुतियाँ कहती हैं—'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नोगतं तत्रास्य यथा काम-चारो भवति' (छान्दोग्य)।

दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि मानसिक शक्ति ('विल पावर') से ही जीव श्रेष्ठ वा अश्रेष्ठ

पद पाता है। इस मन के सम्बन्ध में श्रुतियाँ कहती हैं–'स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते मन सो गतं तत्रास्य यथा-कामचारो भवति' (छान्दोग्य)। यही आत्म-शक्ति परमात्म और व्यष्टि जन दोनों ही मनोमय हैं, जिसके बारे में श्रुतियाँ कहती हैं–'मनोमयोऽयं पुरुषोभाः सत्यः तस्मिन् अन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ते यदिदं किञ्च ॥'–वृहदारण्यक (वृहदारण्यक ने उग्र आदि के स्थान में ईशान, सर्वस्याधिपति और सर्व-प्रशासक पदों का प्रयोग किया है। तात्पर्य एक ही है।)

'ऋषि' (ऋष्–इन् उणादि) पद 'ऋष् गमने' धातु से बना है। संक्षेप में इसका तात्पर्य यह है कि जो लौकिक जीवन और ज्ञान अर्थात् स्थूल ज्ञान की सीमा से परे चला गया है, उसी को 'ऋषि' कहते हैं। इसका रहस्यार्थ ज्ञान-शक्ति है। महा-शक्ति अर्थात् परमा धर्मी-शक्ति की यही ज्ञान-शक्ति है, जिसको विष्णु कहते हैं, जिससे विश्व का पालन होता है अर्थात् जिससे विश्व की स्थिति है। व्यष्टि-भाव में इसी ज्ञान-शक्ति द्वारा जीव की पराहन्ता-भाव में स्थिति रहती है।

'सुमेधा' (सु–मेध्-अप्-टाप्) का शब्दार्थ है सुन्दर वा सुष्टु मेधा अर्थात् स्मरण-शक्ति। इसी को प्रज्ञा-शक्ति अर्थात् आत्म-धारणा-शक्ति कहते हैं। इसकी उपासना मनुष्य क्या, देव और पितृ-गण भी करते हैं–'यां मेधां देव-गणः पितरश्च उपासते' श्रुति। इसी स्मरण-शक्ति से जीव अपने यथार्थ स्वरूप का स्मरण वा ज्ञान सर्वदा रखता है। ऐसे ही जीवों को 'सुमेधा' कहते हैं। अन्यथा मेधा वा स्मरण-शक्ति तो प्रत्येक जीव में पशु-पक्षी इत्यादि में भी साधारणतया रहती ही है। संक्षेप में 'सुमेधा' पद से मुक्त-द्वय अर्थात् जीवन्मुक्त और विदेह-मुक्त का तात्पर्य है। उचित यही है कि इस आत्म-शक्ति की उपासना कर हम सुमेधा बनें।

> अहं रुद्राय धनुरातनोमि,
> ब्रह्म-द्विषे शरवे हन्तवा उ।
> अहं जनाय समदं कृणोम्यहं,
> द्यावा-पृथिवी आविवेश ॥ ६ ॥

टीका–मैं रुद्र का (षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी कारक का प्रयोग है) धनुष, ब्राह्मणों के द्वेषी (त्रिपुरासुर) को मारने के निमित्त, चढ़ाती हूँ (भूत के अर्थ में वर्तमान का प्रयोग)। मैं ही शत्रुओं के संग जनों के निमित्त युद्ध करती हूं। मैंने स्वर्ग और मर्त्य (दोनों) में प्रवेश किया है।

व्याख्या–प्रथम चरण का वाच्यार्थ यह है कि त्रिपुर के असुर को मारने के हेतु महादेव ने जो धनुष चढ़ाया था, वह मेरी ही शक्ति से। परन्तु इसका रहस्यार्थ वा आध्यात्मिक तात्पर्य ऐसा है कि रुद्र (इस 'रुद्र'-पद से ग्यारहवें रुद्र अर्थात् शङ्कर का, जो ग्यारहवीं इन्द्रिय मन का द्योतक है, बोध है) अर्थात् मन के धनुष को, जिस पर महावाक्य-रूप शर वा वाण रख त्रिपुर अर्थात् प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय वा ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय त्रिपुटी के नाश का लक्ष्य विद्ध किया जाता है, चढ़ानेवाली अर्थात् आयमन करनेवाली शक्ति मैं ही हूं।

तात्पर्य कि इसी आत्म-शक्ति के द्वारा ही अनात्माकार-वृत्ति को दूर कर आत्माकार-वृत्ति में आकर लक्ष्य-भेद वा स्वरूप-प्रवेश वा आत्म-ज्ञान होता है–धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्दधीत आयम्य तद्-भाव-गतेन चेतसा लक्ष्यं

तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि (मुण्डक० २।२।३।)

धनुष से प्रणव, महावाक्य, महामन्त्र, तान्त्रिक वीज और कूट सबका बोध है। श्रुति भी कहती है—'प्रणवो धनुः'। इसी धनुष पर अपने को चढ़ाना वा बैठाना होता है—'शरो ह्यात्मा' (श्रुति)। फिर आत्म-शक्ति वा अहन्ता-भाव-शक्ति द्वारा प्रणव वा वीज-मन्त्र के बल के अनुसार अपनी प्रगति होती है। पर्याप्त मन्त्र-शक्ति द्वारा ही सर्वोच्च भाव वा सर्वश्रेष्ठ ज्ञान-भूमिका तक जाया जाता है। इस प्रकार मन्त्र-रूपी धनुष की आयमन-शक्ति वा चैतन्य-शक्ति यही है। यह तो सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि मन्त्र-चैतन्य विना मन्त्र उपयोगी होता नहीं है।

यद्वा 'रुद्राय' पद का हेत्वर्थे चतुर्थी प्रयोग है। इस प्रकार रुद्रों अर्थात् ग्यारहों इन्द्रियों के दमनार्थं प्रणव वा मन्त्र-रूपी धनुष की चढ़ाने-वाली यह आत्म-शक्ति है। दोनों ही तात्पर्य अपने-अपने ढँग से युक्त हैं। 'रुद्र'-पद का यहाँ दूसरे भाव में अर्थ ग्रहण किया गया है। यहाँ अपर-मन का बोध है, जिससे वन्धन है।

'जन' से यहाँ जीव मात्र का वोध है। यह शक्ति प्रत्येक जन के हेतु-अर्थात् प्रत्येक जीव के परम कल्याण के निमित्त बुद्धि-रूप हो षट्-रिपुओं वा अनात्माकार-वृत्तियों से सतत निरवच्छिन्न युद्ध करती रहती है। अनेक आचार्यों का मत है कि 'जन' से स्व-जन का ही तात्पर्य है अर्थात् अपने भक्तों के हेतु ही अर्थात् विशिष्ट जनों के हेतु ही युद्ध करती रहती है। परन्तु इस मातृ-शक्ति में सुपुत्र और कुपुत्र वा स्व-जन और पर-जन की विषमता वा भेद-भाव नहीं हैं—'कुपुत्रे सत्पुत्रे नहि भवति मातुर्विषमता।' यह पर-जन वा शत्रु वा अनात्माकार वृत्तिवालों का भी कल्याण ही करती है। सप्तशती भी ऐसा ही कहती है—

दृष्ट्यैव किं न भवती प्रकरोति भस्म
सर्वासुरानरिषु यत्प्रहिणोषि शस्त्रम्।
लोकान् प्रयान्तु रिपवोऽपि हि शस्त्र-पूता,
इत्थं मतिर्भवति तेष्वहितेषु साध्वी॥

अर्थात् असुरों को तुम दृष्टि से ही क्यों नहीं भस्मसात् कर देती हो? शत्रुओं के (मारने के) निमित्त जो तुम शस्त्र ग्रहण करती हो, इसका यह तात्पर्य है कि शस्त्र से पूत होकर अर्थात् पाप-रहित होकर वे वाञ्छित लोकों को जायँ। ऐसी मति वा ऐसा दया-भाव पर-कार्य-साधिका (साध्वी) तुम्हारा है।

इस अवस्था में जन से स्व-जन मात्र का वोध युक्त नहीं है।

'समदं' का शब्दार्थं संग्राम वा युद्ध है। परन्तु रहस्यार्थं है सम वा शमता वा साम्य देनेवाला "समं ददातीति समदम्" अर्थात् 'साम्यदं कृणोमि वा करोमि' अर्थात करती हूँ। इस भाव में स्वतः प्रश्न आता है कि किसको करती हूँ वा बनाती हूँ। यह अशुद्ध मन को मारकर अर्थात् संकल्प-विकल्प-रहित कर शुद्ध मन को साम्यावस्था में ले जाती है। इसी हेतु इसी की एक संज्ञा 'समय' है। योग्यता अनुसार ही साम्य देती है। साम्य पाँच प्रकार के हैं। किसी को अधिष्ठान-साम्य तो किसी को अवस्थान-साम्य। किसी को अनुष्ठान-साम्य तो किसी को रूप-साम्य, तो फिर किसी को नाम-साम्य।

'अहं द्यावा पृथिवी आविवेश'—मैं स्वर्ग और भूलोक-द्वय में आसमन्तात् प्रविष्ट हूं। इसका ऐसा अर्थं नहीं कि मध्य के लोकों में यह नहीं है। इस पद से ऐसा बोध होता है कि ऊपर से नीचे तक यही वर्त्तमान है। शास्त्रों में 'द्या' इसका शिर है, भुजायें दिशायें हैं, पाँव भूमि वा पृथ्वी है। इस प्रकार यह सर्व-व्यापिनी 'व्यापनाद् विष्णुः' विष्णु-शक्ति है,

ऐसा बोध है। दूसरे प्रकार से पृथिवी से पञ्च-कोशों में के प्रथम कोश—अन्न-मय कोश में भी यही है और पञ्च-सर्वोच्च कोश आनन्द-मय कोश में भी यही है। इसी उक्ति से ऐसा बोध होता है कि पाँचों कोशों में यह है। तात्पर्य कि विश्व में सभी कोशों में यह चिति-रूपिणी वर्तमान है।

आओ शाक्त बन्धु ! हम अपनी मा को सर्वत्र सब अवस्था में देखने का सुप्रयत्न करें। तभी हमारा नाश नहीं हो सकेगा—'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति, तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति'—गीता।

> अहं सुवे पितरमस्य मूर्द्धन्मम,
> योनिरप्स्वन्त: समुद्रे।
> ततो वितिष्ठे भुवनानि विश्वो,
> तामूर्न्द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि ॥ ७ ॥

टीका—मैं पिता को जनमाती हूं। इसके शिर अर्थात् ऊपर मेरी योनि समुद्र के जल के भीतर है। यद्वा इस अर्थात् भूलोक के ऊपर मैं पिता का प्रसव करती हूं। समुद्र में जल के मध्य में मेरी योनि है। इस प्रकार (मैं) समस्त भुवनों में अनु-प्रविष्ट होकर अवस्थित हूं। (फिर) विप्रकृष्ट देश में अवस्थित स्वर्ग-लोक को (मैं) अपने कारण-भूत मायात्मक देह से उपस्पर्श करती हूं।

व्याख्या—पिता से प्रजापति वा ब्रह्मा का बोध होता है। इसी को हिरण्यगर्भ भी कहते हैं। सर्व-प्रथम इसी की सृष्टि हुई है—'ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवन स गोप्ता' मुण्डक। 'हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे' श्रुति। इससे ही जगत् की सृष्टि है। इनकी भी सृजन करनेवाली ब्रह्म-रूपी आत्मा वा परमात्मा है—'तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्' वह्वृच०। यह ब्रह्मा और कोई नहीं, आदि-मूला धर्मी-शक्ति की इच्छा-शक्ति वा मनः-शक्ति है। तन्त्रशास्त्र की तो ऐसी उक्ति है ही, ज्ञान-वाशिष्ठ भी कहता है—'मन एव विरिञ्चित्वं तद्धि सङ्कल्पनात्मकम्' उत्पत्ति प्र० ३।३।४। इसी मानस-तत्त्व से वियदादि पञ्च-तत्त्वों की सृष्टि हुई है।

यद्वा पिता से आकाश का बोध होता है, जिस कारण श्रुति कहती है—'आत्मन आकाशः सम्भूतः'। यथार्थतः आत्मा ही एक-मात्र आदि में थी। इससे ही सब कुछ हुआ है। श्रुति भी कहती है—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत् स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति'—ऐतरेय। वस्तुतः मन वा ब्रह्मा अर्थात् इच्छा-शक्ति को सृष्टि नहीं होती। यह धर्मी शक्ति की वह धर्म-शक्ति है, जो नित्य धर्मी-शक्ति में रहती ही है। इसी कारण ब्रह्मा की एक संज्ञा स्वयम्भू भी है। इसको पर-ब्रह्मा कहते हैं। इच्छा-शक्ति त्रिविध होती है। प्रलय-काल में भी जो परमा नित्या सत्ता के साथ रहती है और जिसको श्रौत शब्दों में योग-शक्ति कहते हैं, वह यही है। अपर-ब्रह्मा भोग-शक्ति-रूपिणी इच्छा-शक्ति है। यह नित्य नहीं है। तीसरी वीर-शक्ति भी ऐसी ही अनित्य है।

इस प्रकार आकाश को ही पिता कहना युक्त-तम है। हाँ, ब्रह्मा को पितामह ही कहना युक्त है, कारण जिस प्रकार व्यष्टि-भाव में हम मन से ही कल्पना कर अपना-अपना संसार बनाते हैं, उसी प्रकार समष्टि वा विराट् भाव की मानसिक कल्पना ही ब्रह्माण्ड है। वस्तुतः आकाश और ब्रह्मा दोनों एक ही वस्तु हैं जैसा योगवाशिष्ठ कहता है—

'नास्त्येव भौतिको देहः प्रथमस्य प्रजापतेः। आकाशात्मा च भात्येव आति-वाहिक-देह-वान्' अर्थात् आदि प्रजापति की पार्थिव शरीर नहीं है।

आति-वाहिक देह-धारी आकाशात्मा के रूप में प्रकाशवान् है। फिर यही कहता है—'आद्यः प्रजापतिर्व्योम-वपुः प्रतनुते प्रजाः'—उत्पत्ति प्र० ३।११। अर्थात् आदि प्रजापति (ब्रह्मा) आकाश-रूपी हो सृष्टि करता है।

अब हम ग्राहक अपनी-अपनी ग्रहण-शक्ति के आधार पर इस जगत-पिता को जो भी संज्ञा दें। मैं ('अहम्') सच्चिदानन्द-रूपिणी इसकी भी जननी है, ऐसा सिद्ध है।

'योनि' से ब्रह्म-योनि का बोध होता है। 'योनि' पद व्यष्टि-कारणत्व और समष्टि-कारणत्व दोनों का द्योतक है—'योनित्वं कारणत्वम्।' इससे भूत वा सर्व-भूत-योनि का बोध है। इसका ज्ञान धीर अर्थात् वीर को ही है—'तद-भूत-योनिं परिपश्यन्ति धीराः' (मुण्डक)। इसी योनि के सम्बन्ध में भगवान् कृष्ण ने कहा है—'मम योनिर्महद्-ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' गीता। फिर वृहदारण्यक कहता है—'सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म'—१।४।११। ब्रह्मसूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' से ब्रह्म का आदि-कारणत्व सिद्ध होता है। इसी योनि के भीतर बीज है, जिसका तन्त्र-शास्त्रों में विन्दु-गर्भ त्रिकोण के रूपक में प्रतिपादन है।

इस बीज वा विन्दु के सम्बन्ध में योग-वाशिष्ठ कहता है—'बीजं जगत्सु ननु पञ्चक-मात्रमेव बीजं परा व्यवहित-स्थिति-शक्तिराद्या। बीजं तदेव भवतीति सदानुभूतं चिन्मात्रमेवमजमाद्यमतो जगच्छ्रीः'—उत्पत्ति प्र० १२।३२

यह योनि आनन्द-मय कोष के जल-सम्वित् के भीतर है। समुद्र 'रा (सह)—मुद—रः (दाने)—अच्' का रहस्यार्थ है संयुक्त आनन्द देनेवाला। 'स' वा 'सह' से मिथुन का तात्पर्य है। यद्वा सम—उत्—रः 'समुद्र'-पद का अर्थ है सम्यक् प्रकार से उत्कृष्ट आनन्द देनेवाला। यद्वा समुद्र का अर्थ है कोष, जिससे सब कुछ निकले—'समुद्रवन्त्यस्माद् भूत-जातानि इति समुद्रः'।

इस कोष के 'अप्सु' पद का तात्पर्य है व्यापनशीला धी-वृत्ति। इसी धी-वृत्ति में जो चेतना है, वही योनि है। इसी को तान्त्रिक शब्दों में समनी-शक्ति कहते हैं। उन्मनी-शक्ति से प्रपञ्च नहीं है। प्रपञ्च संसृति इसी समनी-शक्ति से है।

'ततो वितिष्ठे भुवनानि विश्वा'—'ततः' का अर्थ यहाँ है इस कारण-वशात् वा इस प्रकार 'अहं' अर्थात् मैं विश्वों में और भुवनों में अनुप्रविष्ट होकर 'वितिष्ठे' अर्थात् विशेष प्रकार से अवस्थित हूँ। यहाँ 'विश्व' और 'भुवन' पद-द्वय का सङ्ग-सङ्ग उल्लेख रहस्यमय है। वैसे तो विश्व के उल्लेख से भुवनों का उल्लेख पुनरुक्ति-सा है। परन्तु नहीं, विश्व भुवनों का समष्टि-पद-वाचक है। इस प्रकार समष्टि विश्वों में और फिर प्रत्येक विश्व वा विशिष्ट ब्रह्माण्ड के भुवनों में अवस्थित हूँ, ऐसा बोध है और इससे यह चित्ति-सत्ता नित्य और अनित्य दोनों में है, ऐसा बोध होता है, कारण विश्व नित्य है और भुवन अनित्य। 'विश्व' (विश्—क्वन् उणादि) पद व्यापिनी-सत्ता का बोधक है। इस सत्ता का न आदि है और न अन्त। इसी हेतु सर्व-व्याप्त भुवन-समूह को विश्व कहते हैं। भुवन 'भू—क्यु उणादि' का शब्दार्थ ही सादि-बोधक होने से सान्त-वाचक है। संक्षेप में इससे विषम परिणामिनी सत्ता भी यही है, ऐसा बोध होता है। यह सिद्धान्त विवाद-ग्रस्त है। अनेक का यह मत है कि सत् और चित् असत् और अचित् नहीं हो सकता। ब्रह्म सत् और चित् मात्र है। फिर भी सूक्ष्म विवेचना से यही सिद्ध होता है

कि पूर्ण ब्रह्म अर्थात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' उभय परिणामिनी सत्ता है अर्थात् सत् और असत् दोनों हैं। कारण इन दोनों का नीर-क्षीर-संयोगवत् सम्बन्ध है। इसी से जगद्गुरु भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है कि मैं सत् और असत् दोनों ही हूं—'सदसच्चाहमर्जुन'। फिर श्रौत महावाक्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का अर्थ भी यह है। इसमें अपवाद नहीं है। यही एक-जीव-वाद है।*

'उत अमूं द्यां वर्ष्मणा उपस्पृशामि'—'उत' से द्यौ अर्थात् स्वर्ग-विशेष और विकल्प प्रकृष्ट देश में अवस्थित होने का बोध होता है। यह स्वर्ग-विशेष प्रकृष्ट स्थान उनके हेतु है, जो मनसा अप्राप्य पद को धारणा नहीं कर सकते अर्थात् जिनकी धारणा-सीमा स्वर्ग तक ही सीमित है अथवा भूताकाश-सदृश भूत स्वर्ग तक ही जिनकी धारणा-सीमा वा मनोजवीयता सीमित है। और विकल्प प्रकृष्ट उनके निमित्त है, जिनकी जवीयता स्वर्लोक से परे तपोलोक तक भी जा सकता है। अतएव द्यौ वा स्वर्ग प्रकृष्ट होता हुआ भी विशेष भी हो सकता है और विकल्प रूप भी धारण कर सकता है।

'वर्ष्मणा' (वृष—मनिन् उणादि) पद अनेकार्थ-वाचक है। इसके अर्थ शरीर, माप, सुन्दर आकार आदि हैं। अब शरीर से 'उप-स्पृशामि' अर्थात् 'उप समीपे स्पृशामि' से आपेक्षिक निकटतम हूं, ऐसा बोध होता है। अर्थात् मुझ चिति-रूपिणी का वहाँ अधिक व्यक्त स्थिति है। इसका अनुभव हम पाश-बद्ध जीवों को नहीं होता, जब तक कि हम स्व-शरीर-स्थित द्यु-लोक में जीव-शक्ति अर्थात् कुण्डली-शक्ति को आरोहण नहीं कराते वा पहुँचाते।

आओ शाक्त बन्धु! हम मान्त्रिको शक्ति से अपनी-अपनी जीव-शक्ति को जगाकर कम-से-कम द्यु-लोक वा द्यु-चक्र तक आरोहण कराकर इस उपस्पर्श का अनुभव प्राप्त करें।

अहमेव वात इव प्रवाम्या-
रभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैता-
वती महिमा सम्बभूव ॥ ८ ॥

टीका—मैं ही वायु-सदृश प्रगतिशील होकर विश्वों और भूत-जात कार्यों का प्रारम्भ करती हूं। अर्थात् समस्त नित्य और अनित्य भुवनों की सृष्टि मेरे वायु-सदृश गति-शील होने पर ही आरम्भ होती है। मैं पृथ्वी तथा स्वर्ग के भी परे वर्तमान हूं। यही मेरी महिमा हुई अर्थात् है।

व्याख्या—इसमें अनुपहित और उपहित चेतना-द्वय वा अस्पन्द-शीला और स्पन्द-शीला चेतना के सम्बन्ध में उक्ति है। यह तो सर्व-विदित है कि यह आत्मा स्पन्दास्पन्द-विलासी है—'स्पन्दास्पन्द-विलासात्मा य एको भरिताकृतिः'—योग-वाशिष्ठ उत्पत्ति प्र० ३।८।६२। इस अव्यवहार्या अलक्षणा अदृष्टा मूला परमा शक्ति के दो प्रधान धर्म-शक्ति के रूपों में व्यवहार्य सलक्षण और दृष्ट अर्थात् अनुभव-गम्य रूप हैं। ये दोनों दिक्-शक्ति और काल-शक्ति हैं, जिनको पराकाश-शक्ति और पर-वायु-शक्ति कह सकते हैं। इनके ही नाम तन्त्रशास्त्रों में क्रमशः सदाशिव और महाकाल हैं।

जहाँ दिक्-शक्ति स्थाणु वा स्पन्द-हीन है, वहाँ काल-शक्ति स्पन्द-शील है। संसृति इसी काल-शक्ति-

* सब भूतों में प्रवेशन-क्रिया ही परमात्मा और आत्मा का रमण-क्रिया है। इसी कारण आत्मा को एक संज्ञा 'राम' है—'रमणात् रामः।' फिर इसी प्रकार रमण-क्रिया-द्वारा यह सब-व्यापिनी हो विष्णु कहलाती है—'व्यापनाद् विष्णुः'।
श्रौत देवी-सूक्त-व्याख्या *

द्वारा होती है। यह कालो अर्थात् प्रेरिका आद्या-शक्ति से प्रेरित होकर चक्र-वत् नियमित रूप से चलती हुई संसार को चलाती है। इसके अधीन सब तत्व अपना-अपना कर्त्तव्य करते रहते हैं।

'वात' अर्थात् वायु से भूत-वात का तात्पर्य नहीं है, जैसा हम साधारणतया समझते हैं। इसी प्रकार हम पृथ्वी को मिट्टी समझते हैं। वस्तुतः जिस प्रकार पृथिवी-तत्व में शेष चारों तत्वों के संयोग से मिट्टी बनती है अर्थात् मिट्टी केवल पृथ्वी-तत्वात्मक हो नहीं वरन् पञ्च-तत्वात्मक है, उसी प्रकार वायु-तत्व अति सूक्ष्म है, जो दूसरे तत्वों से संयुक्त होने पर ही स्पर्श-द्वारा बोध-गम्य है। इसको प्रयत्नवदात्म-संयोग-कारिका शक्ति कह सकते हैं। इसका यथार्थ ज्ञान तत्वान्वय के बाद अथ वा तत्व-ज्ञान से होता है। यही आत्म-शक्ति की संसृति का एक सर्वगत्वा स्वरूप है। गीता ने भी ऐसी उपमा दी है—

'यथाकाश स्थिता नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ९।६।

यद्यपि सब तत्व यथार्थतः एक आत्म-तत्व के ही प्रसरण-रूप हैं, जैसा श्रुतियाँ कहती हैं और योग-वाशिष्ठ भी कहता है—'स्वयं प्रकचति स्फार-देहश्चिदणु-खण्डकः'-स्थिति प्र० १८।५४।, तथापि प्रतिपादन करते समय नाम और रूप-भेद का आश्रय लेना ही पड़ता है। उपमा देने की भी बात ऐसी ही है। फिर यद्यपि यथार्थतः निरुपमेया की उपमा वा इसके गुणों की उपमा हो ही नहीं सकती—'केनोपमा भवति तेऽस्य पराक्रमस्य' (चण्डी), तथापि प्रतिपादनाय उपमा देनी ही पड़ती है।

अस्तु, सर्वगत्व से सर्वोदयत्व का ही तात्पर्य है—'सर्वात्मत्वात् स्वभावस्य तद्-दृश्य सत्यमात्मनि। सर्वं विद्यते यत्र तत्र सर्वमुदेति हि'—योग-वाशिष्ठ स्थिति प्र० १८।६०। संक्षेप में प्रवमन-क्रिया वा सर्वगमन-क्रिया से सर्वोदय-क्रिया का बोध है।

'परो दिवा पर एना पृथिवी'—स्वर्ग और पृथिवी से परे हूँ। अर्थात् पृथ्वी से लेकर स्वर्ग वा आकाश से भी परे हूं। इसका यह तात्पर्य है कि पञ्च-महाभूत-पञ्चीकृत और अपञ्चीकृत स्वरूप के परे निर्लिप्त और कूटस्थ ब्रह्म चैतन्य-स्वरूप भी इसका है। गीता के शब्दों में यह सर्व-इन्द्रिय-विवर्जित होने पर भी सर्वेन्द्रिय-गुणाभास है; निर्गुण होती हुई भी सगुण 'निर्गुणं गुण-भोक्तृ च,' अपने को जीवों में विभक्त दिखलाती हुई भी वस्तुतः अविभक्त अर्थात् पूर्ण है—'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव स्थितम्',।

योग-वाशिष्ठ के शब्दों में परमा सत्ता के सभी रूप द्यौ से लेकर पृथिवी तक उसी के स्व-सम्वेदन रूप मात्र हैं अर्थात् चिति जब के प्रस्फुरण ही हैं तात्पर्य कि इसी महान् आत्मा वा आत्म-शक्ति से द्यौ से लेकर पृथ्वी तक सभी विशेष रूप से जृम्भित अर्थात् प्रकटित हुए हैं और यह महती आत्म-शक्ति सकल अर्थात् समष्टि-रूपिणी होती हुई भी व्यष्टि-रूपिणी है अर्थात् यह निष्कला भी है और सकला भी।

यही इसकी महत्ता है, जो अप्रतर्क्य है अर्थात् तर्क वा अनुमान के परे है। अधिक क्या, इसकी महत्ता यह स्वयमात्र जानती है। देव, दानव, मानव आदि कोई नहीं जानता—'सैव स्वं वेत्ति परमा तस्या नान्योऽस्ति वेदिता'—तन्त्र शास्त्र।

अस्तु, इसी महत्ता के ज्ञान की उपलब्धि करनी है। आओ शाक्तबन्धु! हम कटि-बद्ध हो इसकी पाने का प्रयत्न करें। 'माता की जय', 'मातृ-पुत्रों की जय'। ॐ शन्नः कौलिकः।